

THE
HARIDASSANSKRIT SERIES
140.

RMIC LIBRARY

Acc No. 75507

Class No. 421.25

Date 1953

St. Card 8595

Class: SJ

Checked

THE
PHAKKIKĀ PRASNOTTARĪ

EDITED & COMPILED BY

Vyākaranāchārya,

PT. S'RĪ SADĀSHIVA S'ASTRI JOSHI

॥ श्रीः ॥

फक्किकाप्रश्नोत्तरी

व्याकरणाचार्य-साहित्योपाध्याय—

जोशीत्युपाह्वपण्डितसदाशिवशास्त्रिभिः सङ्कलिता

तैरेव परिष्कृत्य संशोधिता च ।

PUBLISHED BY

JAYA KRISHNA DĀS HARIDĀS GUPTA

The Chowkhamba Sanskrit Series Office,

Benares City.

1941

❧ भूमिका ❧

विदितमेव तत्रभवताम्भवताम् , यत्किल वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीस्थफक्किकानां कीदृशं काठिन्यं छात्राणां बोधने लेखने चासीदिति । तत्र मया छात्राणां फक्किकार्थबोधनलेखनकाठिन्यक्लेशदूरीकरणाय 'फक्किकाप्रश्नोत्तरी' निरमायि । अत्र प्रश्नोत्तर्यां तत्तत्फक्किकासु कीदृक् प्रश्नः सम्भवेत् , कथञ्च तस्य प्रश्नस्योत्तरमिति सम्यग्विचार्य तत्तत्फक्किकासु प्रश्नः उत्तरञ्च व्यरचि । अनेन छात्राणां सम्यक् बोधः स्यात् ; लेखनेऽपि प्राविण्यं भवेदिति मे मतिः, किमधिकम् । यदि छात्रः इमां प्रश्नोत्तरीं कण्ठस्थां कुर्यात् ; मन्येऽहं सः प्रथमश्रेण्यामुत्तीर्णो भवेदिति । अत्र संज्ञाप्रकरणादारभ्य कृदन्तान्ताः सर्वाः फक्किकाः व्याख्याताः सन्ति । केवलमनेनैकैर्नैव ग्रन्थेन फक्किकासु छात्राणां सम्यगुपकारो भवेदिति ग्रन्थावलोकनत एवानुभवो भवेदिति तत्र किमधिकं लेखनेन । अस्मिन् सङ्कलने श्रीमान् प्रकाशकमहोदयः श्रेष्ठी गोलोकवासि-हरिदासगुप्तात्मज-जयकृष्णदासो मामतीव प्रोत्साहितवान् । श्रेष्ठिनः आप्रह्वशंवदेन छात्रहितैषिणा मया यथाशेषमुषि प्रश्नोत्तरी सङ्कलिता, तत्र यदि भ्रमप्रमादेन काश्चन त्रुटयः स्युः, ता द्वितीयसंस्करणे निरस्ता भविष्यन्तीत्यलम् ।

विदुषामनुचरः—

सदाशिवशास्त्री जोशी

व्याकरणाचार्यः, साहित्योपाध्यायश्च ।

प्रकरणानां सूची—

| क्र०अं० प्र० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० प्र० नाम | पृ०अं० |
|-----------------------------|--------|-------------------------|--------|
| १ सम्ज्ञाप्रकरणम् । | १ | २९ प्राग्वीयाः | ८७ |
| २ परिभाषाप्रकरणम् | ६ | ३० तद्वाजाः | ८८ |
| ३ अचसन्धिप्रकरणम् | ७ | ३१ द्विरुक्तप्रक्रिया | ८८ |
| ४ प्रकृतिभावः | ८ | ३८ भ्वादिप्रकरणम् | ८९ |
| ५ हल्सन्धिप्रकरणम् | १५ | ३९ अदादयः | १०२ |
| ६ विसर्गसन्धिप्रकरणम् | १८ | ३० जुहोत्यादयः | १०६ |
| ७ रुवादिसन्धिप्रकरणम् | १९ | ३१ दिवादयः | १०६ |
| ८ अजन्तपुल्लिङ्गप्रकरणम् | २० | ३२ तुदादयः | १०७ |
| ९ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् | ३२ | ३३ तनादयः | १०७ |
| १० अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् | ३६ | ३४ क्रयादयः | १०८ |
| ११ हलन्तपुल्लिङ्गप्रकरणम् | ३९ | ३५ चुरादयः | १०९ |
| १२ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् | ४९ | ३६ ण्यन्तप्रक्रिया | ११२ |
| १३ स्त्रीप्रत्ययाः | ५२ | ३७ सन्नन्तप्रक्रिया | ११५ |
| १४ विभक्त्यर्थाः | ६१ | ३८ यङ्लुगन्तप्रक्रिया | ११७ |
| १५ अव्ययीभावसमासः | ७० | ३९ नामधातुप्रक्रिया | ११९ |
| १६ तत्पुरुषसमासः | ७२ | ४० कण्डवादयः | १२२ |
| १७ बहुव्रीहिसमासः | ७८ | ४१ आत्मनेपदप्रक्रिया | १२२ |
| १८ सर्वसमासशेषः | ८० | ४२ परस्मैपदप्रक्रिया | १२४ |
| १९ समासाश्रयः | ८० | ४३ भावकर्मप्रक्रिया | १२४ |
| २० अपत्याधिकारः | ८३ | ४४ कर्मकर्तृप्रक्रिया | १२६ |
| २१ चातुरार्थिकम् | ८५ | ४५ लकारार्थप्रक्रिया | १२७ |
| २२ शेषाधिकारः | ८६ | ४६ कृदन्तकृत्यप्रक्रिया | १२८ |
| २३ ठगाधिकारः | ८६ | ४७ कृदन्तप्रकरणम् | १२९ |
| २४ प्राग्दिशीयाः | ८७ | ४८ उत्तरकृदन्तप्रकरणम् | १३१ |

इति प्रकरणानां सूची ।

फक्किकानां सूची ।

| क्र०अं० फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० फ० नाम | पृ०अं० |
|------------------------------------|--------|---------------------------------------|--------|
| १ मुनित्रयं नमस्कृत्य | १ | ३ लण् सूत्रे अकारस्येत्सञ्ज्ञायां कि- | |
| २ परिभाष्येत्यस्य विषयैत्यस्यार्थे | | मानम् | १ |
| प्रमाणम् | १ | ४ अभ्योन्याश्रयपरिहारः | २ |

| श्र० अ० फ० नाम | पृ० अ० | क्र० अ० फ० नाम | पृ० अ० |
|----------------------------------------------------------|--------|----------------------------------------------------------------------------|--------|
| १ प्रत्याहारेष्वित्सञ्ज्ञकानां न ग्रहणम् १ | ३५ | मय उजो वो वा इत्यत्र वो ग्रहणं किमर्थम् १४ | |
| ६ वर्णसमाम्नायस्थानामेव सवर्णस- ञ्ज्ञानिवेषधात् ३ | ३६ | ईदूतौ च सप्तम्यर्थे इत्यत्र अर्थ- ग्रहणं किमर्थम् १४ | |
| ७ अण् पूर्णकारेण परणकारेण वा ३ | ३७ | टोः किम् ? सर्पिष्टमम् १५ | |
| ८ येन विविस्तदन्तस्य ४ | ३८ | चतुर्मुखः १५ | |
| ९ नवेति विभाषा ५ | ३९ | ककुद्मन्तः १६ | |
| १० प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः ६ | ४० | मोऽनुस्वारः १६ | |
| ११ यत्रानेकविधमान्तर्यम् ६ | ४१ | कुर्वन्ति इत्यत्र १६ | |
| १२ अष्टाभ्य औश् इत्यादेः ६ | ४२ | पुख्यानम् १७ | |
| १३ परन्तित्यान्तरङ्गापवादानाम् ६ | ४३ | कुण्डोऽकपौ च इति १७ | |
| १४ सुद्युपास्य इत्यत्र स्थानिवद्भावः ७ | ४४ | विसर्जनीयस्य स इत्यस्यैव बा- धकम् १७ | |
| १५ वा इतज्जघयोः ७ | ४५ | चेच्छिद्यते इत्यत्र दीर्घस्यैवार्यतुक् न छस्य १८ | |
| १६ हलो यमां यमि लोपः ७ | ४६ | मातृकृपा इत्यत्र न षत्वम् १८ | |
| १७ वान्त इत्यत्र वकाराद्गौर्यतावित्यत्र छकाराद्वा ८ | ४७ | कृत्वोऽर्थे किम् ? चतुष्कपालः १८ | |
| १८ धातोस्तन्निमित्तस्यैव ८ | ४८ | सर्पिष्कुण्डिका १९ | |
| १९ धातोस्तन्निमित्तस्यैव ९ | ४९ | अप्लुतादिति किम् १९ | |
| २० कानि सन्ति कौ स्तः ९ | ५० | अग्नि किम् ? देवाः सन्ति १९ | |
| २१ पुरस्तादपवादेन १० | ५१ | पदे किम् ? तन्त्रयुतम् २० | |
| २२ ऊढग्रहणेन फान्तमेव गृह्यते १० | ५२ | समासग्रहणं नियमार्थम् २० | |
| २३ 'प्राच्छति' इत्यत्र अन्तवद्भावेन पदान्तत्वमादाय ११ | ५३ | हयापग्रहणं किमर्थम् २१ | |
| २४ उपसर्गणैव धातोरक्षेपे सिद्धे ११ | ५४ | अतो गुणे इति हि अकः सवर्णे इत्यस्यैव बाधकम् । २२ | |
| २५ उपेढकीयति प्रोधीयति ११ | ५५ | सम्बुध्याक्षिसत्याङ्गस्य पङ्कह्रस्वा- भ्यां विशेषणान्नेह कतरत्कुलेति २२ | |
| २६ अचि किम् ? कुमारी शेते १२ | ५६ | पृथग्रहणं किमर्थम् ? २३ | |
| २७ अतीति निवृत्तम् १२ | ५७ | विधिरिति किम् ? स्त्री इयती २३ | |
| २८ व्ययस्थितविभाषया गवाक्षः १२ | ५८ | प्रत्यये किम् ? २३ | |
| २९ प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् १३ | ५९ | 'रामाय' इत्यत्र सन्निपातपरि० २४ | |
| ३० इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च १३ | ६० | बहुवचने किम् ? रामः, रामस्य २४ | |
| ३१ अप्लुतवदुपस्थिते १३ | ६१ | शलि किम् ? रामाणाम् २४ | |
| ३२ मणीवोष्टस्येति १४ | | | |
| ३३ रामकृष्णावमू आसाते १४ | | | |
| ३४ अदसोमात् १४ | | | |

| क्र०सं० फ० नाम | पृ०सं० | क्र०सं० फ० नाम | पृ०सं० |
|-------------------------------------------------------------------|--------|----------------------------------------------------------------------------------------------|--------|
| ६२ 'रामाणाम्' इत्यत्र "नामि" इति आरम्भसामर्थ्यात्परिभाषां बाधते | २४ | ८२ 'ओतो णित्' अत्र विहितविशेषणं किमर्थम् ? | ३२ |
| ६३ तदन्तस्यापीयं सञ्ज्ञा | २५ | ८३ 'हे रमे' अस्य सिद्धिः | ३२ |
| ६४ न च अर्वणस्त्रसावनयः | २५ | ८४ 'सर्वासाम्' अत्र सुडागमः कथम् | ३३ |
| ६५ उभशब्दस्य पाठस्तु उभकावित्य- कजर्थः | २५ | ८५ 'असंयुक्ता ये डल्का' इति वार्ति- कस्य अपूर्वतानिरासः | ३३ |
| ६६ डतरडतमौ प्रत्ययौ | २६ | ८६ जरसादेशे 'औः आपः' इति फ- क्किाया उपपादनम् | ३३ |
| ६७ स्वाभिधेयापेक्षावधिर्नियमो व्य- वस्था | २६ | ८७ 'प्रियत्रि कुलम्' अत्र तिच्चादेश- निरासः | ३४ |
| ६८ न बहुमीहौ | २७ | ८८ 'अस्त्रीति तु' इति फक्किाया आशयः | ३५ |
| ६९ सञ्ज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वा- दयः | २७ | ८९ कैयटवृत्तिकारादीनां नित्यस्त्रीत्वे मतभेदः, तेषाम्मते 'प्रधी' श- ब्दस्य रूपनिरूपणम् | ३५ |
| ७० द्वन्द्वे च | २८ | ९० 'पूकाजुत्तर' इत्यत्र णकारग्रहणस्य फलम् | ३६ |
| ७१ जरसादेशविषये वृत्तिकारादीनां मतम् | २८ | ९१ 'अमि लुकोऽपवादम्' इति फ- क्किायाः स्पष्टोऽर्थः | ३६ |
| ७२ 'यूष्णः' इत्यत्र कया रीत्या णत्वम् | २९ | ९२ 'ह्रस्वो नपुंसके' इत्यत्र प्रातिप- दिकग्रहणस्य फलम् | ३६ |
| ७३ 'पदज्ञोमास' इत्यत्र किमर्थं प्रभृ- तिग्रहणम् ? | २९ | ९३ "श्रीपाय" अत्र आकारलोप- वारणम् | ३७ |
| ७४ क्त्वः, डनः, इत्यत्र आकारलोपो- पपत्तिः | २९ | ९४ 'हे वारे हे वारि' अत्र 'नलुमता' इत्यस्यानित्यत्वम् । | ३७ |
| ७५ 'शेषो व्यसलि' अत्र 'यू' इति अनुवर्तनस्य फलम् | ३० | ९५ 'तृतीयादिषु' अत्र भाषितपुंस्क- स्यार्थः | ३८ |
| ७६ 'हल्ङ्याभ्यो' इति सूत्रे प्रथमह- ल्ग्रहणं किमर्थम् | ३० | ९६ 'प्रतिशब्दस्य आमि मतभेदसहितं स्वरूपनिरूपणम् | ३८ |
| ७७ 'सुसलि' शब्दस्य घिसञ्ज्ञाविचारः | ३० | ९७ 'दादेधातोर्घः' अत्र उपदेशपदस्य कथं लाभः | ३९ |
| ७८ त्वदादिगणस्य द्विपर्यन्तत्वास्वी- कारे को दोषः | ३१ | ९८ 'पूकाचो वशो, इति सूत्रस्यार्थः | |
| ७९ दुधिया वृश्चिकमिया इत्यत्र कथं इयङ् | ३१ | | |
| ८० नप्रादीनां कथं नियमार्थत्वं कथं च उद्गातृशब्दस्य दीर्घत्वम् | ३१ | | |
| ८१ 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इत्यस्य आश- योपपादनम् | ३२ | | |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|---------------------------------|--------|---------|-----------------------------------|--------|
| | पदस्याऽन्वयनिरूपणम् | ३९ | ११७ | 'उगिदचाम्' अत्र अज्पदस्य अ- | |
| ९९ | 'अनड्वान्' अत्र नुमाऽऽम् कथं | | | धातोरित्यस्य च किं फलम् | ४८ |
| | न बाध्यते । | ३९ | ११८ | 'सेदुषः' इति रूपसिद्धिः | ४९ |
| १०० | 'णत्वं द्वित्वं' 'चतुर्णाम्' | ४० | ११९ | 'औत्वप्रतिषेधः साकच्' इत्या- | |
| १०१ | 'किमः कः' इति गुरुन्यासनिरू- | | | देराशयः | ४९ |
| | पणस्य फलम् | ४० | १२० | 'विमलदिवि' अत्र उत्त्वप्राप्ति- | |
| १०२ | 'राजः' इत्यत्र कया रीत्या | | | निरासः | ४९ |
| | इच्छुत्वम् | ४० | १२१ | 'अहः' अहोभ्याम्, अत्र कया | |
| १०३ | 'प्रतिदीवन्' अत्र स्थानिवद्भाव- | | | रीत्या प्राप्तनलोपवारणम् | ५० |
| | निरासः | ४१ | १२२ | 'दीर्घाहा' अत्र 'अहन्' इति रूत्व- | |
| १०४ | 'वृत्रघ्नः' अत्र णत्ववारणम् | ४२ | | सिद्धिः | ५० |
| १०५ | 'भववान्' अत्र कया रीत्या न- | | | | |
| | लोपवारणम् | ४२ | १२३ | 'असृजः पदान्ते कुत्वम्' इत्यादि- | |
| १०६ | 'अष्टौ' इत्यस्य सिद्धिः | ४३ | | फक्किाव्याख्यानम् | ५१ |
| १०७ | 'प्रियाष्टनः' अत्र कया रीत्या | | १२४ | 'बेमिदि' अत्र कुतो नुमभावः | ५२ |
| | ष्टुत्वाऽभावः | ४४ | १२५ | 'स्वाम्पि' अत्र नुमदीर्घयोः केन | |
| १०८ | 'त्व अम्' 'अह अम्' अत्र | | | भाव्यम् | ५२ |
| | स्त्रीत्वे टाप् कथं न | ४४ | १२६ | 'अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेष- | |
| १०९ | 'मपर्यन्तस्य' इति अधिकारस्य | | | णात्' इत्यादि फक्किाकाया | |
| | सार्थक्यम् | ४५ | | अर्थः । | ५२ |
| ११० | 'यूयम्' 'वयम्' अत्र कथं दयादे- | | १२७ | 'शूद्राचामहत्पूर्वाजातिः' अस्य | |
| | शनिवारणम् | ४५ | | युक्तार्थत्वम् | ५३ |
| १११ | 'भ्यसो भ्यम्' अत्र भ्यमभ्यमयोः | | १२८ | 'उगिदचामिति सूत्रे' इति फक्कि- | |
| | को युक्ततरः | ४६ | | कायाः स्पष्टाशयः | ५३ |
| ११२ | 'भाविनः सुटो' इत्यादि फक्कि- | | १२९ | 'अतिसुत्वरी' अत्र स्त्रीत्वयोः | |
| | कायाः स्पष्टाशयः | ४६ | | सिद्धिः | ५४ |
| ११३ | 'युवावौ द्विवचने' 'त्वमावेकवच- | | १३० | 'टावुचि' अस्य नव्यप्राचीनयो- | |
| | ने' अत्र द्विवचनैकवचनयोः प्र- | | | मतेनार्थनिर्णयः | ५४ |
| | त्यस्यपरत्वनिरासः | ४७ | १३१ | 'पञ्च, चतस्रः' अत्र कथं स्त्री- | |
| ११४ | 'प्रतीचः' अत्र यणप्राप्तिनिरासः | ४७ | | भावः | ५४ |
| ११५ | 'अदसोद्रेः' इति कारिकाया | | १३२ | 'प्रत्ययस्यात्' अत्र पूर्वस्येति- | |
| | विवरणम् | ४८ | | पदग्रहणस्य फलम् | ५५ |
| ११६ | 'अयस्कारः' अत्र 'अतः' कृकमिति | | १३३ | 'भस्त्रैषाजाज्ञा' इति सूत्रस्य | |
| | सकारः कया रीत्या भवति | ४८ | | व्याख्यानम् | ५५ |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|------------------------------------------------------------------------|--------|---------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------|
| १३४ | 'बहुव्रीहोर्भाषितपुंस्कत्वात्' इति फक्किकाया व्याख्यानम् | ६६ | १९१ | 'अकथितञ्च' इति सूत्रस्य व्याख्यानम् | ६३ |
| १३५ | 'अनुपसर्जनाद्' एतदधिकार- फलम् | ६६ | १९२ | सञ्ज्ञाया अर्थनिबन्धने प्रमा- णनिरूपणम् | ६४ |
| १३६ | 'वक्ष्यमाणा' अत्र कथं हीन- भावः | ६७ | १९३ | 'गतिबुद्धि' सूत्रस्य सोदाहरणार्थः | ६४ |
| १३७ | 'ताच्छीलिकेऽणेऽपि' अस्य व्याख्यानम् | ९८ | १९४ | 'गतिबुद्धि' सूत्रस्य विध्यर्थत्वं नियमार्थत्वं वा | ६४ |
| १३८ | 'अनुपसर्जनस्य' इति इहोत्तरा- र्थमपीति फक्किकाविवरणम् | ९८ | १९५ | 'अकर्मकाणां' कौमुदीकाररीत्या व्याख्यानम् | ६५ |
| १३९ | 'अथ वृषलस्य पत्नी' इत्यादि- फक्किकार्थः । | ९८ | १९६ | पापेऽभिनिवेशः अत्र कर्मत्वं कथं न | ६५ |
| १४० | 'गजवाची नागशब्द' इत्यादिफ- क्किकाया आशयः | ९९ | १९७ | 'अनुलक्षणे' इति 'हेतोः' इति च सूत्रार्थः | ६६ |
| १४१ | 'घोतो गुणवचनात्' अत्र किम- र्थमुद्ग्रहणम् | ९९ | १९८ | 'सपिषोऽपि स्यादस्य विवरणम् | ६६ |
| १४२ | 'ब्रह्माणी' इति कया रीत्या सिध्यति | ९९ | १९९ | 'साधकतमं करणमत्र तमग्रहण- स्य फलम् । | ६७ |
| १४३ | 'स्वाङ्गाच्चोप' इत्यादौ स्वांगप- देन कस्य ग्रहणं स्वाङ्गत्वं च किम् | ९९ | २०० | 'अनुलक्षणे, हेतौ, स्पृहेरीप्सितः, इत्यादीनां व्याख्यानम् | ६७ |
| १४४ | 'जातेरस्त्री' अत्र जातिपदेन कस्य ग्रहणं किं तत्फलं च | ६० | २०१ | 'अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः' अस्या व्याख्यानम् | ६८ |
| १४५ | 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' अत्र नरपदग्रह- णस्य फलम् | ६१ | २०२ | 'वने उपवसति, नदीमन्ववसिता से- ना, आमुक्तेः संसारः, शतस्य दी- व्यति एषां विभक्तिनिरूपणपुरः- सरं 'सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये' इति सूत्रव्याख्यानम् | ६८ |
| १४६ | प्रातिपदिकस्य अर्थनिरूपणं, लिङ्ग- ग्रहणफलं च । | ६१ | २०३ | बहिर्योगे पञ्चमी अस्य प्रमाणप्रति- पादनपूर्वकं 'कर्तृकर्मणोः कृति' अत्र- स्थकृतिपदस्य प्रयोजननिर्णयः | ६९ |
| १४७ | 'द्रोणो व्रीहिः' अस्योपपत्तिः | ६१ | २०४ | 'अधीति व्याकरणे' अत्र केन सूत्रेण सप्तमी | ७० |
| १४८ | 'एकः द्वौ' इत्यादौ प्रातिपदि- कार्यमात्रे प्रथमा कथं न | ६२ | २०५ | भूतपूर्वः अत्र भूतपदपूर्वनिपातोप- पत्तिपूर्वकम् 'अधिहरि' इति प्रयोगसिद्धिः | ७० |
| १४९ | 'कर्तुरीप्सिततमम्' अत्र कर्तुरिति किम् ? | ६२ | २०६ | 'अधिगोपम्, अस्य' सिद्धिः, वि- | |
| १५० | 'कर्तुरीप्सिततमं' अत्र तमग्रहणं किमर्थम् | ६३ | | | |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|-------------------------------------------------------------------------------|--------|---------|-----------------------------------------------------------------|--------|
| | भाषाधिकारनिर्णयश्च | ७१ | १८१ | 'आन्महत' अत्र लक्षणवतिपदोक्त- परिभाषाप्राप्तिविचारः । | ७७ |
| १६७ | 'आयतीगवम्' परोक्षम्, एतयोः साधनम् | ७१ | १८२ | 'अष्टागवम्' अत्र कथं युक्तार्थ- लाभः । | ७७ |
| १६८ | 'द्विगुश्च' इत्यस्य वैयर्थ्यनिरूपणम् द्विगोस्तत्पुरुषत्वे फलम् | ७१ | १८३ | 'चित्राजरद्वगुः' अत्र कस्य पुंवद्भावः | ७८ |
| १६९ | 'स्वयम्' अस्य कान्तेन समासनि- र्णयः, द्वितीयाविभक्तिनिर्ण- यश्च | ७३ | १८४ | 'पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्रत्ययश्च' इत्या- देर्विवरणम् । | ७८ |
| १७० | 'चतुर्थी तदर्था' अत्र तदर्थेन किं गृह्यते, अश्ववासादीनां समा- सविचारः । | ७३ | १८५ | सपत्नीशब्दस्य सभेदं निरूप- णम् । | ७९ |
| १७१ | प्रतिपदविधानषष्ठीविचारः 'न निर्धारणे' अस्य वैयर्थ्यस्वविचा- रश्च । | ७३ | १८६ | 'मोर्गुणः' अत्र 'ओरोत्' इति न्यासे सम्यक्स्वविचारः | ७९ |
| १७२ | 'पूरणगुण' अत्रत्यगुणवाचकेन स- मासनिषेधविचारः । | ७४ | १८७ | 'विनसाहतबान्धवा' इति शंका- निरसनम् । | ७९ |
| १७३ | 'भूभता' 'त्रिभुवनविधातुः' अत्र 'तृजकाम्याम्' इति कथं न निषेधः | ७४ | १८८ | 'सुपां सुपा तिळा नाम्ना' इति कारिकाव्याख्यानम् | ८० |
| १७४ | 'तक्षकस्य सर्पस्येति' फक्किका- व्याख्यानम् | ७४ | १८९ | 'हृल्लेखः' साधनपुरस्सरं 'उत्तराधि- कारे परिभाषाज्ञापनप्रकारः | ८० |
| १७५ | 'मल्यान्द्' 'सायान्द्' इति एकदे- शिसमासनिरूपणम् । | ७५ | १९० | 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' अस्य व्या- ख्यानम् | ८१ |
| १७६ | 'प्रासजोविका' अर्थ समासः केन तदुपपत्तिश्च | ७५ | १९१ | 'गर्गभगिनी' अत्र णत्वविचारः | ८२ |
| १७७ | 'युवसलती, युवजरती' इति समा- ससिद्धिः | ७५ | १९२ | 'माषकुम्भवापेन' 'चतुरङ्गयोगेनः' अत्र णत्ववारणविचारः । | ८२ |
| १७८ | सप्रमाणं लिङ्गविष्टपरिभाषाविवर- णम् | ७६ | १९३ | 'आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी बाधते' अस्य विचारः । | ८३ |
| १७९ | 'सप्रमाणं' 'गतिकारकोप' इति प- रिभाषायाः रूपद्वीकरणम् | ७६ | १९४ | 'तस्येदमित्यपत्येऽपि' इत्यस्य कारिकाया व्याख्यानम् | ८३ |
| १८० | 'दीर्घान्ही, अत्र कथं नत्वाभावः ७७ | | १९५ | कृतसन्धेः किम् 'सौत्यतिः' इति फक्किकाप्रतिपादनम् । | ८४ |
| | | | १९६ | गोत्रे स्वेकोनेति कारिकायाः उप- पादनम् | ८४ |
| | | | १९७ | 'क्षत्रियसमानशब्दात्' इति वार्तिक- व्याख्यानम् | ८५ |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|---------------------------------------------------------------------------|--------|---------|-----------------------------------------------------------------------|--------|
| १९८ | वामदेवाङ्घ्र्यौ' अत्र चितः प्रयोज- नविचारः । | ८५ | २१५ | 'प्रत्यये किम् वमश्च' इति फक्कि- काव्याख्यानम् | ९२ |
| १९९ | 'शेषः' इत्यस्य लक्षण अधिकार- त्वनिर्णयश्च | ८६ | २१६ | 'आमो मकारस्य नत्वम्' कृत्- ग्रहणसामर्थ्यात् अन्यस्याऽपि प्रयोगः | ९२ |
| २०० | 'आकर्षात्पदादेः' इति कारिका:- व्याख्यानम् । | ८६ | २१७ | 'इन्दाचकार अत्र तद्धाभाववि- चारः | ९३ |
| २०१ | प्राग्दिशीयानां विभक्तिसंज्ञाफल- विचारः | ८७ | २१८ | 'एकाच उपदेशे' अत्रैकाग्रग्रहणप्र- योजनम् | ९४ |
| २०२ | 'चतुर्थादनजादौ' इति कारिकाव्या- ख्यानम् | ८७ | २१९ | 'आदेशश्चेह्वैरूप्य' इत्यादि फक्कि- काया व्याख्यानम् । | ९४ |
| २०३ | 'काकतालीयः' इत्यस्य सिद्धिः | ८८ | २२० | षोपदेशकारिकाया व्याख्यानम् | ९४ |
| २०४ | 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' इति सूत्रा- भिप्रायः | ८८ | २२१ | 'तस्मान्नुद्भिहलः' अत्रऽनेकहल- पलक्षणविचारः । | ९५ |
| २०५ | 'एकं बहुमीद्वित्' इत्यस्य व्या- ख्यानम् | ८८ | २२२ | 'उवोख' अत्र अमोऽभावा, 'ऊख- तुरिति सिद्धिश्च | ९५ |
| २०६ | बहुलग्रहणविचारः | ८९ | २२३ | 'विव्यत्तु' इत्यस्य साधनम् | ९६ |
| २०७ | 'द्वलद्वये टाबभावः' इति कारिका- विवरणम् | ८९ | २२४ | क्रादीनां चतुर्णां नियमात्त्वोपपा- दनम्, नियमस्वरूपं च | ९६ |
| २०८ | 'आट आटतुः' एतयोः दोषनिवा- रणपूर्वकं 'ह्लादिः शेषः' इत्यस्य व्याख्या | ८९ | २२५ | 'संज्ञायाः कार्यकालत्वात्' इत्यस्य व्याख्यानम् | ९७ |
| २०९ | 'येन नाव्यवधानम्' इत्यस्याऽभि- प्रायः । | ९० | २२६ | 'कथमुदयति' इत्यस्य विवरणसि- द्धिः | ९८ |
| २१० | 'भवतात्' इत्यत्र क्विच्चेत्यस्य कथ- मुत्सर्गेण बाधः | ९० | २२७ | 'अप्यायि तरुहस्तोऽसौ' अत्र असौ इत्यस्यान्वयोपपत्तिः, | ९८ |
| २११ | 'क्षित्वोक्ते' इत्यादिदीक्षिताभि- प्रायविचारः | ९१ | २२८ | 'वल्ह—अदने' धातोः प्रयोगवि- चारः | ९८ |
| २१२ | 'यापुटो' क्षित्करणस्य प्रयोज- नम् | ९१ | २२९ | स्यन्द्—प्रस्रवणे धातोर्लटि प्रथ- मैकवचनरूपस्य सिद्धिः | ९९ |
| २१३ | 'अतो येयः' अत्र 'सार्वधातुके' इत्य- नुवृत्तेः फलम् | ९२ | २३० | मत्स्योदके अनुप्यन्दते' अत्र वल्ह- विचारः | ९९ |
| २१४ | 'भवेयुः' अत्र 'उत्स्यपदान्तात्' इ- त्यस्य प्राप्तिवारणम् । | ९२ | २३१ | 'कमलवनोद्धाटनम्' इत्यस्य सिद्धिः | ९९ |

| क्र०अं० फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० फ० नाम | पृ०अं० |
|---------------------------------------------------------------------------|--------|-----------------------------------------------------------------------------------|--------|
| २३२ 'विव्यये' इति रूपसिद्धिः | १०० | २९२ 'विव्यच' अत्र संप्रसारण- विचारः । | १०७ |
| २३३ 'विज्ञापना' 'तज्ज्ञापयति' अत्र 'मि- तां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः कथं न | १०० | २९३ 'शेत्तुम्फादीनाम्' इत्यस्य विवेच- नम् । | १०७ |
| २३४ 'न कम्पमिचमाम्' इत्यतो नकारो- त्तरानुवृत्तिविचारः | १०१ | २९४ 'ममङ्कथ' इति रूपस्य सिद्धिः | १०७ |
| २३५ आज्ञातोरुभयत्र पाठविनिमयः | १०१ | २९५ 'सञ्चस्करतुः' अस्य सिद्धिः, थलि इ- डागमविचारश्च | १०७ |
| २३६ 'सस्वरिव' अत्र इडागम- विचारः | १०१ | २९६ 'संत्क्रियात्' इत्यस्य सिद्धिः | १०८ |
| २३७ 'प्रणिमयते' अत्र कया रीत्या णत्वम् | १०१ | २९७ 'अवान्धाम्' इत्यस्य सिद्धिः | १०८ |
| २३८ परिष्करणः अत्र स्थणत्ववि- चारः | १०२ | २९८ 'पृषिता' इत्यस्य सिद्धिः | १०८ |
| २३९ 'विव्याय' अत्र प्रासवकारसंप्रसा- रणविचारः । | १०२ | २९९ 'णिच' पक्षिक्त्वविचारः विशेषसा- मन्यापेक्षयोर्विचारश्च | १०९ |
| २४० 'जक्षतुः' अत्र स्थानिवत्त्वनिरा- सः | १०२ | २६० चुरादौ 'प्' इति दीर्घोच्चारण फ- लम् | १०९ |
| २४१ 'जहि' अत्र हेलोपविचारः | १०३ | २६१ 'अचाकृतत्' इत्यस्य सिद्धिः | ११० |
| २४२ 'चखिळः' आत्मनैपदविचारः | १०३ | २६२ 'ओः पुयण्ज्यपरे' अत्र वर्गप्रत्या- हारजप्रहो लिङ्गम् अस्यां विश- दार्थः | ११० |
| २४३ 'अत्रभाष्ये खशादिरयमादेशः' इत्य- स्य व्याख्यानम् | १०३ | २६३ 'औननत्' इत्यस्य सिद्धिः | १११ |
| २४४ 'युयात्' अत्र वृद्धिः कुतो न | १०३ | २६४ 'आख्यानात्कृतः' इत्यादेरर्थनिरूप- णम् | ११२ |
| २४५ 'अभीयात्' अत्र प्रासह्रस्वत्ववि- चारः । | १०४ | २६५ कंसमजीघतत्' इत्यस्य सिद्धिः | ११२ |
| २४६ अध्ययै इत्यस्य साधनम् | १०४ | २६६ 'न चाग्लोपित्वादितिक्रिकका- व्याख्यानम् | ११२ |
| २४७ 'अयं सार्वधातुकमात्रविषयः' अ- स्याऽऽशयः । | १०४ | २६७ 'बहिरङ्गोऽप्युपधाह्रस्वः' इत्यादे- र्विमर्शः ता० | ११२ |
| २४८ दरिद्राधातोः प्रथमस्यैकवचने रु- पाणि | १०५ | २६८ 'औग्निजत्' इत्यस्य सिद्धिः | ११३ |
| २४९ 'ऐयः' धत्तः इत्यनयोः प्रसाधा- नम् | १०५ | २६९ कथं तर्हि विस्मापयन् विस्मि- तमात्मवृत्तौ | ११३ |
| २५० 'अत्रिलक्षत्' इत्यस्य सिद्धिः | १०६ | २७० 'अध्यजीगपत्' इत्यस्य सिद्धिः | ११४ |
| २५१ दिवादौ 'जिमिवा' धातोः पाठ- विचारः | १०७ | २७१ 'पेर्षिण्यद्' इति रूपसिद्धिः | ११४ |
| | | २७२ निवृत्तप्रेषणाद्धातोर्हेतुमणौ शु- द्धेन मुत्स्योऽर्थः । | ११४ |

| क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० | क्र०अं० | फ० नाम | पृ०अं० |
|---------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------|---------|------------------------------------------------------------------------------------|--------|
| २७३ | 'एषिषिषति' इत्यस्य सिद्धिः ११५ | | २९० | 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्ताऽ- नाध्याने अस्य व्याख्यानम् १२३ | |
| २७४ | धिप्सति उर्णुनविषति' इत्यस्य शङ्कानिरासपूर्वकं साधनम् । ११५ | | २९१ | 'अनुपराभ्यां कृष्णः' इति सूत्रे कर्तरीत्येव भावकर्मणोर्भाभूत् ११४ | |
| २७५ | 'अरिषिषति' अस्य सिद्धिः । ११६ | | २९२ | प्रकृतो मितां ह्रस्व एव तु न विकल्पितः' १२४ | |
| २७६ | 'उचिच्छिषति' इत्यस्य सिद्धिः ११६ | | २९३ | द्विकर्मकेषु सोदाहरणं कर्मप्रत्य- यविचारः १२५ | |
| २७७ | 'शैषिकान्मतुषर्थाया' अस्य व्याख्या ११७ | | २९४ | कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः अस्य व्याख्या १२६ | |
| २७८ | यद्भुलुगन्तात् आत्मनेपदं कथञ्च ११७ | | २९५ | 'तपस्तपाः कर्मकस्यैव' इत्यस्य व्याख्या १२६ | |
| २७९ | यद्भुलुका भाषायां मानम् ११७ | | २९६ | 'याहि याहीति याति' इति विशेषशास्त्रकार्यप्रदर्शनेन सा- धनम् १२७ | |
| २८० | यकारवकारान्तानामूठभाविनाम् अस्य व्याख्या ११७ | | २९७ | 'अचो यत्' इति सूत्रं कर्तुमश- क्यं नवेति' प्रतिपादय १२७ | |
| २८१ | ऋधातोर्यद्भुलुकि' आशीर्लिङि प्रथमपुरुषैकवचने रूपसिद्धिः ११८ | | २९८ | 'इचेति ह्रस्वः सुपठः' इत्यस्य, भिप्रायः १२८ | |
| २८२ | 'अवगल्भाञ्चक्र' अस्य साधनम् ११९ | | २९९ | 'भार्या वधूः' इत्यत्र क्यप् भव- ति न वा १२८ | |
| २८३ | 'अवागलिभट्ट' इतिरूपं साध- नोयम् ११९ | | ३०० | 'न कादेः' इति सूत्रस्य उपयो- गोऽस्ति नवेति प्रतिपादय १२८ | |
| २८४ | 'स्वमनायत' एतद्रूपं शङ्कानि- रासपूर्वकं प्रसाधनम् उपसर्ग- स्य पृथक्करणे सफलज्ञापकप्र- दर्शनम् ११९ | | ३०१ | 'प्रैषादि' सूत्रे कृत्यग्रहणं कर्त- व्यं न वा १२९ | |
| २८५ | बृद्धौ सत्यां टिलोपः अत्र ज्ञाप- कफलप्रदर्शनम् १२० | | ३०२ | 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति सूत्रे वृत्तिकारभाष्यका- रयोः को मतभेदः १२९ | |
| २८६ | 'त्वादयति' इति रूपं प्रसाध्य 'प्रकृत्यैकाच्' इति सूत्रस्य फलम् १२० | | ३०३ | 'निष्ठायां सेङ्' इत्यत्र सेङ्ग्रह- णस्य फलम् १२९ | |
| २८७ | 'स्नानमाचष्टे' इत्यर्थे कानि रूपाणि १२१ | | ३०४ | 'सानुमतः प्रकुलम्' अत्रस्थदो- षवारणम् १३० | |
| २८८ | कण्डवादीनां धातुत्वप्रातिपदि- कत्वोभयस्वीकारे फलं प्रभा- णञ्च १२२ | | | | |
| २८९ | आहृध्वं मा रघुत्तममिति प्रयो- गे शङ्कासमाधी १२२ | | | | |

| क्र०अ० फ० नाम | पृ० अ० | क्र०अ० फ० नाम | पृ०अ० |
|-------------------------------------|--------|--------------------------------------|-------|
| ३०५ 'दृषिषासी वैयात्ये' इदं सूत्रं | | ३११ 'कर्मणि च येन' इति सूत्रे कर्तुं | |
| विध्यर्थमुत नियमार्थम् | १३० | ग्रहणं किमर्थम् | १३२ |
| ३०६ धिनुण उकार उच्चारणार्थः | | ३१२ 'अतिसुलभम्, अतिदुर्लभम्, | |
| प्रयोजनार्थो वा | १३१ | अत्र 'उपसर्गात्सल्लघ्नोः' इति | |
| ३०७ 'विदत्तम्' अत्र 'दस्ति' इत्यनेन | | नुम् कथं न | १३२ |
| दीर्घः कथं नेत्यादि | १३१ | ३१३ 'अदो जग्धल्यप्ति' इति | |
| ३०८ 'यायावरः' अत्य साधनम् | १३१ | सूत्रे ल्यब् ग्रहणं किमर्थम् | १३२ |
| ३०९ अर्थग्रहणमस्तिनव सम्बध्यते | १३१ | ३१४ 'मूलकोपदंशम्भुक्ते' अत्र साम- | |
| ३१० 'निवासविति' इति सूत्रे चः कः | | ध्याभावात् णमुल्प्रत्ययः समासश्च | |
| इत्येव वक्तव्ये अदिग्रहणं | | कथम् | १३३ |
| किमर्थम् | १३२ | | |

इति श्रीवैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीस्थफक्त्रिकानां सूची ।



परीक्षा तथा अन्य प्रकार की सभी संस्कृत पुस्तकों के
मिलने का एकमात्र प्राचीन स्थान—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस

विद्याविलास प्रेस, बनारस सिटी ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

फक्किकाप्रश्नोत्तरी

शिवं सर्वविद्यानिधानं प्रणम्य

मुनीन् सूत्रकारादिकान् स्वान् गुरुञ्च ।

ब्रुवे व्याकृतेः फक्किकाप्रश्नतत्त्वम् ,

परीक्षार्थिनां तोषहेतोर्निगूढम् ॥ १ ॥

प्रश्नः—मुनित्रयं नमस्कृत्येत्यत्र “नमःस्वस्तिस्वाहा” इति चतुर्थी कुतो न इति प्रदर्श्य “परिभाषस्तिरक्रिया” इत्यमरात् परिभाष्येत्यस्य विचार्येत्यस्यार्थं प्रमाणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु मुनित्रयं नमस्कृत्येत्यत्र स्वयम्भुवे नमस्कृत्येत्यत्रेवात्रापि “नमःस्वस्तिस्वाहा” इत्यादिना चतुर्थी स्यात्, इति चेद्, न । उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी” इति परिभाषया “नमस्करोति देवान्” इतिवत् द्वितीयैव युक्तत्वात् । न च स्वयम्भुवे नमस्कृत्येत्यत्र स्वयंभुवमनुकूलयितुमित्यर्थविषक्षायां “क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः” इत्यादिना चतुर्थी लिङ्गा, एवं च “नमःस्वस्ति” इति सूत्रे नमःपदं व्यर्थमिति वाच्यम् । ‘हरये नमः’ इत्यत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठ्यां प्राप्तायां तद्वाधनाय तत्प्रावक्ष्यकत्वात् ।

ननु “परिभावस्तिरक्रिया” इत्यमरकोशात्” सर्वत्र परिसमभिव्याहारे भूधातोरवज्ञानार्थस्यैव सम्भवात् व्यावर्त्याभावेन “परौ भुवो अवज्ञाने” इत्यत्र अवज्ञानग्रहणं व्यर्थं सत् ज्ञापयति—“धातूनामनैकार्थत्वम्” इति । एवञ्च भूधातोरवज्ञानातिरिक्तार्थस्यापि सम्भवात् ; “मनसा परिभाव्य किञ्चित्” इत्यादिश्रीहर्षप्रयोगाच्च, विचार्येत्यर्थेऽपि न किमपि बाधकमिति दिक् ।

प्रश्नः—लणू सूत्रेऽकारस्येत्यसङ्ख्यायां किं मानम् ? तस्य फलं च किम् ? इति दर्शय ।

उत्तरम्—ऋत्वर्णयोः सावर्ण्यं प्रालंकारीयतीत्यत्र ब्रुद्धेः “उरण् रपरः” इति रपरत्ववारणपर “लपरं वक्ष्यामि” इति भाष्यव्याख्यानावसरे लणसूत्रस्थाकारेण रप्रत्याहारमाश्रित्य रशब्दस्य रेफलकारोभयबोधकत्वमिति कैयटः ।

ननु सर्वत्र रप्रत्याहारेणैव निर्वाहे “अतो लरान्तस्य” इत्यत्र लकारोच्चारणं व्यर्थं मिति चेत्, न । तेन हि रप्रत्याहारस्यानित्यत्वज्ञापनात् । अत एव “रषाभ्याम्” “र-दाभ्याम्” इत्यादौ न लप्रहणम् । तेन कल्पेन, प्रफुलतामित्यादौ न दोष इति प्राञ्जः ।

नव्यास्तु—“लपरं वक्ष्यामि” इत्यस्य उः स्थाने प्रयुज्यमानो योऽण् स रपरो भवति लपरश्च भवति इति व्याख्यानेन वक्ष्यामि इत्याहुः । अन्यथा “अतो लरान्तस्य” इति सूत्रे पाणिनिर्लकारं नोच्चारयेत् । रप्रत्याहारेणैव निर्वाहात् ।

प्रश्नः—“हलन्त्यम्” “आदिरन्त्येन सहेता” अनयोः परस्परापेक्षत्वेन अन्योन्याश्रयः कथम् ? परिहारश्च कीदृक् इति साधूपपादय ।

उत्तरम्—‘वाक्यार्थज्ञाने पदपदार्थज्ञानं कारणम्’ इति नियमात् “हलन्त्यम्” इत्यत्र “अन्तो जघन्यं चरममन्त्यपाश्चात्यपश्चिमाः” इत्यमरकोशात् अन्त्यपदस्य बोधस्त्वेऽपि हलपदस्य बोधः पाणिनिसङ्केतज्ञानाभावात् न सम्भवति; इति तज्ज्ञानार्थं “आदिरन्त्येन सहेता” इति वाक्यार्थबोध आवश्यकः । “आदिरन्त्येन सहेता” इति वाक्यार्थबोधोऽपि इत्सञ्ज्ञाज्ञानमन्तरा न सम्भवति । “आदिरन्त्येन सहेता” इति वाक्यार्थबोधे इत्पदज्ञानमपेक्षितम्, तच्च “हलन्त्यम्” इति सूत्रार्थबोधमन्तरा न सम्भवति, हलन्त्यसूत्रेऽपि इत्पदार्थज्ञाने हलपदार्थज्ञानमपेक्षितम्, तच्च “आदिरन्त्येन सहेता” इति वाक्यार्थबोधमन्तरा न सम्भवति, इति परस्परापेक्षत्वादन्योन्याश्रयः । अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते, यथा “नौर्नावि बद्धा नेतरत्र त्राणाय भवति” इति भाष्यात् । अतस्तद्बोधपरिहाराय “हलन्त्यम्” इति सूत्रावृत्तिः क्रियते “हलन्त्यम्” “हलन्त्यम्” इति । तत्र प्रथमहलन्त्यमित्यस्य हलिति सूत्रेऽन्त्यम् इत् भवतीति । इत्सञ्ज्ञाज्ञाने जायमाने “आदिरन्त्येन सहेता” इत्यनेन हलपदबोधः सुकरः । हलपदबोधे जायमाने द्वितीयहलन्त्यमित्यस्य वाक्यार्थबोधे कस्याप्यपेक्षाविरहात् नान्योन्याश्रयः । आवृत्तौ प्रमाणं हि “न विभक्तौ तुस्मा” इति सूत्रमेव । तदभावे हि हलन्त्यमित्यस्य वाक्यार्था-निष्पत्तौ “न विभक्तौ” इति निषेधो व्यर्थ एव स्यादिति दिक् ।

प्रश्नः—अक्, अच् हल् इत्यादिप्रत्याहारेषु इत्सङ्गकानां ग्रहणं

कुतो न भवतीति वद ।

उत्तरम्—ननु “लण्” सूत्रस्थावर्णेन सङ्क्षेपार्थमागो रेफो रल्लयोः संज्ञा इति न युक्तम्, टकारस्याऽपि मध्यपतितत्वादिति चेद् ? न । “अनुनासिक” इत्यादिनिर्देशेन “प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम्” इति ज्ञापनात् । अन्यथा अनुनासिक इत्यत्र ककारस्याच्प्रत्याहारान्तःपातित्वाद्दत्त्वमादाय यणापत्तिः स्यात् ।

न च इत्वविधानसामर्थ्यात् न यणः प्राप्तिरिति वाच्यम् । शास्त्रस्य साक्षाद्वाचकल्पनापेक्षया प्रत्याहारेऽनुबन्धानामग्रहणमित्यत्रैवेत्वविधानस्य ज्ञापकत्वे षाद्यवात् । “पापाणके कुत्सितैः” “एकः पदान्तादति” इति निर्देशा अग्यत्र ज्ञापकत्वे मानत्वाच्चेत्युक्तम् ।

प्रश्नः—“नाज्झलौ” इत्यनेन वर्णसमाभ्यासस्थानामेव सवर्णसंज्ञानिषेधात् विश्वपाभिरित्यत्र “हो ङः” इति ढत्वं कुतो न ।

उत्तरम्—“पूर्वं वर्णानामुपदेशस्तावत्, उपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा, इत्सञ्ज्ञोत्तरकाला प्रत्याहारसिद्धिः, तदुत्तरकाला सवर्णसंज्ञा, तदुत्तरं नाज्झलौविति निषेधः, तदुत्तरं ग्राहकतो शक्तिः ? एतेन सर्वेण समुदितेनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति, न स्वस्मिन्नापि स्वाङ्गे,” इति भाष्योक्तरीत्या “तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णं” “नाज्झलौ” इत्येतान्मां प्राक् ग्रहणकशास्त्रस्यासिद्ध्या “नाज्झलौ” इत्यस्य वाक्यार्थबोधवसरे ऽच्प्रदेन वर्णसमाभ्यासस्थानां ह्रस्वानामेव ग्रहणात् । तेषामेव सवर्णसंज्ञानिषेधेन दक्षिणशब्दात् शीतलं षष्ठं सान्द्रमित्येतेषु परेषु यणादिकं न । दीर्घादीनां च हल्भिः सह सावर्ण्यमस्त्येव । अत एव ‘कुमारी शेते’ इत्यत्र सवर्णदीर्घवारणाय “अकः सवर्णे दीर्घः” इति सूत्रेऽचिग्रहणानुवर्तनं सफलम् । नन्वेवं विश्वपाभिरित्यत्र हकारस्याकारसवर्णत्वात् “हो ङः” इति ढत्वं स्यादिति चेद्, न । “कालसमयवेलासु तुमुन्” इत्यादिनिर्देशेन नाज्झलौवित्यत्राकारप्रश्लेषात्, आकारस्यापि हलः सावर्ण्यनिषेधादित्यलम् ।

प्रश्नः—“अणुद्वित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः” इत्यस्मिन् सूत्रे अण् इति पूर्वणकारेण परणकारेण वा प्रत्याहारां ग्राह्य इति सप्रमाणं लिख ।

उत्तरम्—“अणुद्वित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः” इत्यस्मिन् सूत्रे अण् परेणैव णकारेण गृह्यते “ऋत इत्” इत्यत्र तपरकरणाखिलङ्गात् । तथाहि—पूर्वणकारेणाण्प्रत्याहाराङ्गीकारे ऋकारस्याण्त्वाभावात् “अणुद्वि” सूत्रेण सवर्णग्राहकताऽप्र-

सक्तौ तद्व्यावृत्त्यर्थं तत्र कृतं तपरकरणं व्यर्थं सत् उक्तायै ज्ञापकम् । परणकारेण ग्रहणे तु ऋकारस्याणत्वेन ग्राहकताञ्जप्रवृत्त्या प्राप्तसवर्णग्रहणव्यावृत्तये तपरकरणस्य सार्थक्यम् ।

वस्तुतस्तु इदं प्रमाणं न मनोरमम् । लृकारग्रहणेन चारिताध्यात् । एवं च “उर्ऋत्” इत्यप्रत्ययतपरकरणस्योक्तायै ज्ञापकत्वं बोध्यम् । तथाहि-चुरादिष्यन्तात् “कृतधातोलुङि अचीकृतत्”, इत्यत्र दीर्घं ऋकारस्थाने ह्रस्वऋकार एव यथा स्यादित्येतदर्थं तत्र तपरकरणं क्रियते । अत्र पूर्वणकारेणान्ग्रहणे तु उद्देश्येन विधेयेन च ऋकारस्याणभिन्नत्वेन भिन्नकालस्याग्रहणात् न तस्य स्थानित्वस्य न वा आदेशस्य प्रसक्तिरिति व्यर्थमेव तत् । ज्ञापिते तु उक्तायै ऋकारस्याणत्वात् ग्राहकशास्त्रेण सवर्णत्वबोधनात् दीर्घादेशापत्तिरिति तद्व्यावृत्त्यर्थं तकारोपादानं स्वांशे चरितार्थमित्यलं पल्लवितेन ।

प्रश्नः—“येन विधिस्तदन्तस्य” इत्यस्मिन् सूत्रे येन इति तृतीयास्तस्य कोऽर्थः ? “समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः” “उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्” इत्यनयोः वार्तिकयोः फलं च विवेचनीयम् ।

उत्तरम्—येन इति करणे तृतीया कारणस्य व्यापारवत्त्वनियमात्, अन्येषां च व्यापाराभावात्, विशेषणमेव अत्र कारणतृतीयान्तेनोच्यते । तस्माच्च इतरव्यावृत्तिकरणमेव व्यापारः, तत्र शब्दोपस्थितविशेषस्य तादृशं विशेषणमेव तदन्तग्राहकम् । क्वचित् सति गमके अतादृशं शब्दरूपं विशेष्यमादायापि तदन्तविधिः । अत एव “इनृहृन्” इत्यादिविषये तदन्तविधिः ।

“समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः” एतद्वार्तिकम् । समासविधौ प्रत्ययविधौ च तदन्तविधेः प्रतिषेधो वाच्यः । तेन कृष्णं परमश्रितः इत्यत्र “द्वितीयाश्रितातीत” इति समासो न भवति, समासविधित्वेन तदन्तविधेरभावात् । सूत्रनटस्य गोत्रापत्यं सौत्रनाडिरित्यत्र च “मडादिभ्यः फक्” इति फक् न भवति, प्रत्ययविधित्वेन तदन्तविधेरभावात् ।

नन्वेवं पचन्तमतिक्रान्ता अतिपचन्तीत्यत्र “उगितच” इति उगिदन्तात्प्रातिपदिकात् विहितो ङीप् न स्यात्, प्रत्ययविधौ तदन्तविधेः प्रतिषेधात् । तथा “अस हृन्” इत्यनेन अस्यापत्यम् इह इत्यत्रैव हृन् प्रत्ययः स्यात्, अदन्तदक्षशब्दात् दक्षस्यापत्यं दाक्षिः इत्यत्र हृन् न स्यादिति चेद्, न । “उगिद्वर्णग्रहणवर्जः

म्” इति निषेधात् । तस्य ह्ययमर्थः—उगिद्वग्रहणं वर्णग्रहणं च वर्जयित्वा “समासप्रत्ययविधौ” इत्युक्तः प्रतिषेधो भवति । उगिद्वर्णग्रहणे तु “येन विधिः” इति तदन्तविधिरस्त्येव । ततश्च अतिपचन्तीत्यत्र उगिदन्तप्रातिपदिकात् “उगितश्च” इति ङीप्, दाक्षिरित्यत्र अवर्णान्तादिञ् च सिद्धयतीति दिक् ।

प्रश्नः—“नवेति विभाषा” इत्यस्यार्थः, फलश्च संक्षेपेण लिख ।

उत्तरम्—अत्र न वा, इति विभाषा इति च पदत्रयम् इति लोके अर्थपदार्थकस्य शब्दपदार्थकत्वकृत् । यथा—गवित्ययमाह इत्यादावनुकरणे । अस्मिन् सूत्रे तु स्वरूपमिति परिभाषणात् शब्दपदार्थकस्य अर्थपदार्थकत्वकृत् । स च न वा शब्दाभ्यां प्रत्येकं सम्बध्यते, व्याख्यानात् । तेन न वा शब्दयोरर्थौ संज्ञिनौ । प्राप्तविभाषासु नास्योपयोगः । तासां पक्षे निवृत्तिमात्रफलकत्वात् । अप्राप्तविभाषास्वपि न । तासां पक्षे विधिमात्रार्थकत्वात् । अप्राप्तत्वेन निषेधासम्भवाच्च । तस्मादुभयत्र विभाषार्थमिदम् ।

तथाहि—द्विवचनबहुवचनेष्वपित्सु “वचिस्वपियजादीनां किति” इति नित्यतया सम्प्रसारणं प्राप्तम्, त्रित्सु त्वेकवचनेषु सम्प्रसारणं न प्राप्तम्, “असंयोगाल्लिट्कित्व” इति कित्वस्यापित्वेव प्रवृत्तेः । एवं च प्राप्तेऽप्राप्ते चारम्भात् “विभाषाश्वेः” इत्युभयत्र विभाषा इति स्थितिः । तत्र हि श्रुतक्रमानुरोधात् पूर्वं कित्सु निषेधः । तत्र किदकिद्रूपे सर्वस्मिन् लिटि ऐक्यरूपं प्रापिते सति पक्षे भवतीत्येकरूपेण विधिमुखेनैव विकल्पः । यथा—शुशाव, शिश्वाय, इत्यत्रेति दिक् ।

प्रश्नः—“प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः” इति परिभाषया “सुसिङ्गन्तं पदम्” इति सूत्रघटकसुसिङ्गोः प्रत्ययत्वेन तदन्तग्रहणे सिद्धे अन्तग्रहणं किमर्थमिति विवेचनीयम् ।

उत्तरम्—“प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः” इति परिभाषया सुसिङ्गोः प्रत्ययत्वेन तदन्तग्रहणे सिद्धे अन्तग्रहणं व्यर्थं सत् ज्ञापयति—“संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ती”ति (संज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपिता या प्रत्ययमात्रवृत्तिसाक्षादुद्देश्यता तत्प्रयोजकं पदं यत्र तत्र तत्रादिविशेष्यकतदन्तग्रहणं नास्तीति) तेन असंज्ञा तत्समपोरेव न तदन्तस्य । तेन गौरीश्रावणितरा इत्यत्र न इस्व इति दिक् ।

इति संज्ञाप्रकरणम् ।

अथ परिभाषाप्रकरणम् ।

प्रश्नः—आन्तर्यं कति विधम् ? तेषां लक्ष्याणि च प्रदर्श्य 'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः' इत्यस्य फलं वद ।

उत्तरम्—आन्तर्यं चतुर्विधम्, स्थानार्थगुणप्रमाणभेदात् । स्थानतो यथा—“दध्न” अत्र तालुस्थानस्येकारस्य स्थाने तालुस्थानीयकारो जातः । अर्थतो यथा—“पद्मनोमास” इति पादशब्दस्य पदादेशः । गुणतो यथा—“वाग्धरिः” अत्र संवारस्य नादस्य घोषस्य महाप्राणस्य हस्यतादृश एव घकारः । प्रमाणतो यथा—अमुम्, अमू, अ न् । “अदसोसेरि”त्यनेन ह्रस्वस्य ह्रस्वो दीर्घस्य च दीर्घ उकारः ।

चेता, स्तोता, इत्यत्र “पुगन्तलघूपधस्य च” इत्यनेन इकारोकारयोः स्थानत आन्तर्याद् एकारौकाररूपे गुणे प्राप्ते प्रमाणत आन्तर्याच्च अकाररूपे गुणे प्राप्ते “यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः” इति परिभाषया स्थानत आन्तर्यस्य बलवत्त्वात् एकारौकारौ स्त एवेति दिक् ।

प्रश्नः—“अष्टाभ्य औशू” इत्यादौ “आदेः परस्य” इयं परिभाषा “अनेकालिशित्सर्वस्य” इत्यनया कथं बाधयते तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“अष्टा जस्” इति स्थिते, अत्र “अष्टाभ्य औशू” इत्यनेन औशू प्राप्तः । स च “तस्मादित्युत्तरस्य” इति परिभाषया अष्टनृशब्दाव्यवहितपरस्य प्राप्तः, तत्रानेकालत्वात् सर्वादेशे प्राप्ते, “आदेः परस्य” इत्यनेन आदेरेव प्राप्ते, तत्र “तुल्यबलविरोधे परं कार्यम्” इति परस्य प्राबल्यत्वेन “अनेकालिशित्सर्वस्य” इति सर्वादेशः ।

ननु “अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाशयोरेकस्मिन् लक्ष्ये युगपत् प्रवृत्तिर्विप्रतिषेधः” स च प्रकृते नास्तीति चेदुच्यते । “आदेः परस्य” इत्यस्यावकाशः “अन्तर्यप्रसंगेभ्यो ऽप ईत्” इत्यादौ । “अनेकालिशित्सर्वस्य” इत्यस्यावकाशः “अस्तेभूः” “इदम-ईशू” इत्यादौ । “अष्टाभ्य औशू” इत्यादौ तूभयोर्युगपत्प्रवृत्तिरिति अस्तीह प्रकृते विप्रतिषेध इति दिक् ।

प्रश्नः—“परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः” इत्यस्योच्चाहरणानि क्रमशो ब्रूत ।

उत्तरम्—पराञ्तर्यं यथा—उदति पूर्वम् । लघूपधगुणं बाधित्वा नित्यत्वात् शाः । परादन्तरङ्गं यथा—उभये देवमनुष्याः । इह “प्रथमवरम” इति परामपि

विकल्पेन प्राप्तां सर्वनामसंज्ञां बाधित्वा विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् “सर्वा-
दीनि” इति सर्वनामसंज्ञा भवति, परादपवादो यथा—‘दध्ना, दध्ने इत्यत्र “अस्थि-
दधि” इत्यनङ् परमपि अनेकालिति सर्वादेशं बाधित्वा “छिच्च” इत्यपवादेना-
न्तर्देशः । नित्यादन्तरङ्गं यथा—‘ग्रामणिनी कुले’ नित्यमपि “इकोऽचि” इति नुमं
बाधित्वा “ह्रस्वो नर्णुसक” इत्यन्तरङ्गत्वाद्भ्रस्वः । कृते तु नुमि, अनजन्तत्वात्
ह्रस्वो न स्यात् । अन्तरङ्गादपवादो यथा—‘दैत्यारिः, श्रीशः’ परमपि सवर्णदीर्घं
बाधित्वा अन्तरङ्गत्वादाद्गुणे यणि च प्राप्ते अपवादत्वात्सवर्णदीर्घ इति दिक् ।

इति परिभाषाप्रकरणम् ।

अथाचसन्धिप्रकरणम् ।

प्रश्नः—‘सुधुपास्य’ इत्यत्र स्थानिवद्भावः कथं निरस्तस्तत्प्रदर्शय, ।

उत्तरम्—‘सुधी उपास्यः’ इति स्थिते अत्र “इको यणचि” इति सूत्रेण ध-
कारोत्तरवर्तिन इकारस्य यणि आन्तरतम्यात् यकारे कृते ‘सुधय् उपास्य’ इति
जाते अत्र “अनचि च” इति द्वित्वे कृते ‘सुधय् उपास्य’ इति भूते अत्र शङ्कते—
ननु “स्थानिवद्देशोऽनलिवधौ” इत्यनेन यकारस्य स्थानिवद्भावेनाच्त्वमाश्रित्य
अच्परत्वेन “अनचि च” इति द्वित्वनिषेधः स्यादिति चेद्, न । ‘अनलिवधौ’
इति स्थानिवद्भावनिषेधेनाच्परत्वाभावात् । न च “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इति
स्थानिवद्भावेनाच्त्वं स्यादिति वाच्यम् ? “न पदान्तद्विर्वचन” इति द्विर्वचने कर्त-
व्ये स्थानिवद्भावनिषेधादित्यलम् ।

प्रश्नः—“अनचि च” इत्येष सिद्धे “वा हतजग्धयोः” इति किमर्थ-
मिति ब्रूत ।

उत्तरम्—ननु “वा हतजग्धयोः” इति व्यर्थम्, द्वित्वस्य तु “अनचि च”
इत्यनेनैव सिद्धत्वादिति चेद्, न । क्लान्ते परे पुत्रशब्दस्य यदि द्वित्वम्,
तर्हि हतजग्धयोरेव ; आक्रोश एव इति नियमार्थमावश्यकत्वात् । नियमफलं तु
पुत्रवित्तिः, पुत्रकृतिरित्यादौ द्वित्वाभावः ।

ननु पुत्रहतीत्यादौ हतशब्दपरत्वाभावेन द्वित्वं न स्यादिति चेत्, न । प्राति-
पदिकग्रहणे क्लृप्तिविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” इति परिभाषया द्वित्वप्रवृत्तेः सुवचत्वात् ।

प्रश्नः—“ह्रस्वो यमां यमि लोपः” इति सूत्रस्य प्रयोजनं वद ।

उत्तरम्—ननु हर्षनुभवः, नद्यस्ति, इत्यादौ “अचो रहाम्भां द्वे” इति विकल्पेन द्वित्वे द्वियकारात्मकं रूपं, द्वित्वाभावपक्षे एक्यकारात्मकं रूपम्, तत्र “हलो यमां यमि लोपः” इत्यनेन विकल्पेन लोपे एक्यकारात्मकं, लोपाभावपक्षे तु द्वियकारात्मकं रूपमिति द्वित्वेन यत् सिद्धं तदनेनापीति, “हलो यमां यमि लोपः” इत्यस्य प्रयोजनं न किञ्चिदिति चेद् ? न । अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम् आदित्यः, इत्यत्र आदित्यशब्दाद्देवतायै “दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः” इति ण्यप्रत्यये णकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते भसंज्ञायाम् “यस्येति च” इत्यकारलोपे “हलो यमां यमि लोपः” इति विकल्पेन यलोपे एक्यकारात्मकं रूपम्, लोपाभावपक्षे—द्वियकारात्मकं रूपमिति फलस्य सत्त्वात् ।

प्रश्नः—गव्यूतिरित्यत्र “लोपः शाकल्यस्य” इत्यनेन वलोपः कुतो नेति स्पष्टं वद ?

उत्तरम्—गव्यूतिरित्यत्र “ऊतियुति” इत्यादिना यूतिशब्दो निपातितः, गोशब्दस्य यूतिशब्देन समासे ‘गो + यूति’ इति स्थिते ‘गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्या-नम्’ इत्यनेन “अध्वपरिमाणे च” इत्यनेन वा वान्तादेशे कृते गव्यूतिरिति जाते अन्तर्वर्तिनीं विभक्तीमाश्रित्य वकारस्य पदान्तत्वात् “लोपः शाकल्यस्य” इत्यनेन वलोपे प्राप्ते सति न भवति । “वान्तो यि” इत्यत्र वकारात्पूर्वभागे “लोपो व्योर्वलि” इति लोपेन वकारः प्रविलिख्यते, तस्य च श्रूयमाणवकारान्त आदेशः स्यादित्यर्थात् । न च “वान्तो यि” इत्यत्र वकारस्य प्रक्षेपेऽपि तत्सूत्रे एव प्रक्षेपस्य फलम्, अत्र तु फलाभाव इति वाच्यम् ? “गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्या-नम्” इत्यत्र छकारात्पूर्वभागे प्रक्षेपकरणेन समाधातुं शक्यत्वात् ।

प्रश्नः—“धातोस्तन्निमित्तस्यैव” इत्यत्र नियमाकारः कीदृशः ?

उत्तरम्—‘लघ्यम्, इत्यत्र ‘लुञ्—छेदने, इति धातोः “अचो यत्” इति यति “आर्धधातुकं शेषः” इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इति गुणे ‘लो + यम्’ इति स्थिते ओकारस्य प्रत्ययनिमित्तकत्वेन “धातोस्तन्निमित्त-स्यैव” इत्यनेन वान्तादेशो रूपम् । ‘अवश्यलौघ्यम्’ इत्यत्र तु आवश्यके उपपदे लुञ्धातोः “ओरावश्यके” इति ण्यति “मयूरव्यंसकादयश्च” इति समासे “लुम्पे-ववश्यमः कृत्ये” इति मलोपे “अचो ङिति” इति वृद्धौ ‘अवश्यलौ + यम्’ इति स्थिते ओकारस्य प्रत्ययनिमित्तकत्वेन “धातोस्तन्निमित्तस्यैव” इत्यनेन वान्तादेशो

सति रूपम् । इह उभयत्र “वान्तो यि प्रत्यये” इत्यनेन वान्तादेशे सिद्धे “धातो-
स्तन्निमित्तस्यैव” इति “सिद्ध सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति” इति न्या-
येन नियमार्थम् । नियमस्य सजातीयापेक्षत्वात् यादौ प्रत्यये परे धातोरेचच्चेद्वा-
न्तादेशस्तर्हि प्रत्ययनिमित्तस्यैव एव नान्यस्य, तेन ओयत इत्यत्र आहूपूर्वकात् वेजः
कर्मणि लटि, यकि, सम्प्रसारणे पूर्वरूपे आडा सह आद्गुणे च ‘ओयत’ इत्यत्र प्र-
त्ययनिमित्तस्यैवोऽभावात् न वान्तादेशः । नियमाभावे तु पूर्वसूत्रेणात्र वान्तादे-
शापत्तिः स्यात् ।

ननु अन्तरङ्गवान्तादेशदृष्ट्या बहिरङ्गगुणस्यासिद्धत्वेन वान्तादेशप्राप्त्या ना-
वश्यकं तत्सूत्रमिति चेद् ? न । वेजः कर्मणि लङि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपे आडा-
गमे “आटश्च” इति वृद्धौ ‘ओयत’ इत्यत्र वान्तादेशव्यावृत्त्यर्थं तस्यावश्यकत्वात् ।

प्रश्नः—“धातोस्तन्निमित्तस्यैव” इति नियमेनैव अन्यव्यावृत्तिः
सिद्धा, सूत्रे एवकारः किमर्थमिति दर्शय ?

उत्तरम्—“सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति” इति न्यायेन
नियमविधिसिद्धे तन्निमित्तस्यैवेति एवकारस्तु विपरीतनियमव्यावृत्त्यर्थः । एवका-
राभावे हि यदि प्रत्ययनिमित्तकस्य चेदेशो वान्तादेशस्तर्हि धातोरेवैवः इत्यपि नि-
यमः प्रतीयेत, तथाच बाधश्च इत्यत्र वान्तादेशो न स्यादित्यलम् ।

प्रश्नः—“कानि सन्ति कौ स्तः” मस्याः फक्क्रियायाः आशयः श-
ङ्कासमाधानपुरःसरमुपपादनीयः ।

उत्तरम्—ननु शब्दशास्त्रे पक्षद्वयं पदसंस्कारपक्षो वाक्यसंस्कारपक्षश्च, तत्र
परस्परनिरपेक्षाणि पदानि संस्क्रियन्ते यत्रासौ पदसंस्कारपक्षः । एवं वाक्यादुद्धृत्य
पदानि संस्क्रियन्ते यत्रासौ वाक्यसंस्कारपक्षः । तथाच—वाक्यसंस्कारपक्षे ‘कानि
सन्ति’ इति वाक्ये प्रक्रियाक्रमेण पूर्वं ‘किम्’ शब्दः तदुत्तरं जस् ततो अस् धातुः,
तदुत्तरं स्ति इति किमः कादेशे जसः इयादेशे जुमि दीर्घं च कानि इति सिद्ध्यति ।
अस्धातोः “इनसोरल्लोपः” इत्यल्लोपे “झोऽन्तः” इति अन्तादेशे सन्तीत्यस्य
सिद्धिः । एवं च स्थानिभूतादकारात् पूर्वत्वेन दृष्टस्येकारस्य यणि कर्तव्ये “अचः पर-
स्मिन्” इति स्थानिवत्त्वेन अकारस्य सङ्गावात् अस्त्येव यणः प्रसक्तिः । एवं कौ
स्तः इत्यत्राऽपि “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इति सूत्रेण स्थानिवद्भावात् अकार-
रूपमचत्वमाश्रित्यास्त्येव अवादेशस्य प्रसक्तिरिति चेद् ? न । यणादिरूपचरमाच-

यवकार्ये कर्तव्ये “न पदान्त”सूत्रेण स्थानिवन्नावनिषेधात् ।

प्रश्नः—पुरस्तादपवादस्यायस्य किं स्वरूपम् ? बाध्यबाधकभावश्च कीदृशः ? ‘अवैहि’ इति वृद्धिः साधुर्नवेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“पुरस्तादपवादाः अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” इति न्यायस्वरूपम् । पूर्वपठिताः अपवादाः अव्यवहितानेवोत्तरान् विधीन् बाधन्ते, न तु व्यवहितानित्यर्थः । प्रकृते च “एत्येधत्यूट्सु”—इत्युत्तरं कानिचित् सूत्राणि पठित्वा “एङि पररूपम्” इति पठित्वा पुनः कतिपयसूत्राणि पठित्वा “ओमाङोश्च” इति पठितम् । ततश्च उक्तन्यायेन “एत्येधत्यूट्सु” इति वृद्ध्या “एङि पररूपम्” इत्येव बाध्यते, न तु “ओमाङोश्च” इति पररूपमपीति । अपवादस्वरूपम् हि—“एत्येधत्यूट्सु” इति सूत्रस्य यत्र यत्र अवगादिजादि हण् एधत्यन्यतरधात्ववयवअचपरत्वसत्वेन प्राप्तिविषयता तत्र तत्र उपपत्तिः प्रपद्यते इत्यादौ “एङि पररूपम्” इत्यस्य प्राप्तिर्वर्तते, इति “एत्येधत्यूट्सु” इत्यस्यापवादस्वरूपम् । यत्र क्वचित् ‘अव एहि’ इत्यादौ “एङि पररूपम्” “ओमाङोश्च” इत्युभयोः प्राप्तिर्वर्तते । “एत्येधत्यूट्सु” इत्यस्य निरवकाशत्वेन अपवादत्वात् उभयबाधकत्वं प्रसक्तम्, तथापि सकललक्ष्यप्राप्तिविषयतया नाप्राप्त एङि पररूपबाधेन ‘उप + पत्ति’ ‘प्र + एधते’ इत्यादौ वृद्धेश्चरितार्थेन “ओमाङोश्च” इत्यस्य बाधे निरवकाशत्वरूपबाधबीजस्य अभावेन उभयोस्तुल्यबलत्वे “विप्रतिषेधे परं कार्यम्” इति पररूपस्य परत्वात् प्रबलतया ‘अव एहि’ इत्यत्र प्रवृत्तिरिति ‘अवैहि’ इति पररूपवर्जितं साधु, वृद्धिर्जटितं च असाधुरिति दिक् ।

प्रश्नः—“प्रादूहोढोढ्येबैष्येषु” इतिवार्तिकेन प्रोढवान् इत्यत्रापि प्र उपसर्गात् ऊढपरत्वेन वृद्धिः स्यान्न वा इति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“अथचअलजसृजमृजयजराजआजघृष्टां षः” इत्यत्र केवलराजग्रहणेनैव षत्वसिद्धौ आजग्रहणं व्यर्थं सज्ज्ञापयति—‘अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्’ इति । अर्थवतः शब्दस्य ग्रहणसम्भवे अनर्थकस्य शब्दस्य ग्रहणं न भवतीति तदर्थः । तेन “प्रादूहोढोढ्येबैष्येषु” इति वार्तिकस्य ऊढपदेन सार्थकस्य तस्य ग्रहणात् प्रौढः इत्यत्र वृद्धिर्भवति, प्रोढवान् इत्यत्र क्वतुपत्ययान्तऊढवत्शब्दकऊढ-इत्यस्य अनर्थकत्वेन तस्य अग्रहणात् अस्य वार्तिकस्य अप्रवृत्तौ “आद् गुणः” इति गुण एवेति दिक् ।

प्रश्नः—‘प्राङ्छति’ इत्यत्र अन्तवद्भावेन पदान्तत्वमादाय रेफस्य विसर्गः कुतो नेति चद् ।

उत्तरम्—‘प्र + ऋच्छति’ इति स्थिते “उपसर्गादिति धातौ” इति सूत्रेण “स्थानेऽन्तरतमः” इति परिभाषैकवाक्यतया ‘अनान्त्यमेवैतयोरान्त्यर्थम्’ इत्यान्तरतम्यादुपसर्गावयवाकारात् ऋकारादिऋच्छधात्ववयवे अचि परे पूर्वपरयोः स्थाने अकारैकादेशे “उरण् रपरः” इति रपरे च कृते ‘प्राङ्छति’ इति सिद्धम् ।

नन्वत्र “अन्तादिवच्च” इत्यनेन पूर्वस्थानिघटितसमुदायपर्याप्तपदत्वधर्मस्य एकादेशान्ते प्रार् इत्यत्रारोपेण रेफस्य पदान्तत्वात् “खरवसानयोर्विसर्जनीयः” इति विसर्गः कुतो नेति चेत् ? न । “उभयधक्षु” “कर्तरि चर्वि” इत्यादिषु रेफस्य विसर्गाकरणपूर्वकं रेफविशिष्टनिर्देशेन अन्तवद्भावेन पदान्तत्वमादाय रेफस्य विसर्गाभावज्ञापनात् ।

प्रश्नः—उपसर्गेणव धातोराक्षेपे सिद्धे पुनः धातुग्रहणं किमर्थमिति प्रतिपाद्य ।

उत्तरम्—‘उप + ऋच्छति’ इति स्थिते अत्र “उपसर्गादिति धातौ” इति सूत्रेण “स्थानेऽन्तरतमः” इति परिभाषैकवाक्यतया अनान्त्यमेवैतयोरान्त्यमित्यान्तरतम्यमादाय पूर्वपरयोः अकारऋकारयोः स्थाने आकाररूपवृद्ध्यैकादेशे “उरण् रपरः” इति रपरे ‘उप्राङ्छति’ इति सिध्यति ।

नन्वत्र “उपसर्गादिति धातौ” इति वृद्धिः कथम् ? “ऋत्यकः” इति ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावः स्यादिति चेद् ? न । “उपसर्गादिति धातौ” इत्यत्र ‘धातौ’ इति योगविभागं कृत्वा तत्र वाक्यभेदेन च ‘उपसर्गादिति’ इत्यनुवर्त्य पूर्वसूत्रविध्यनुवादभूतपुनर्वृद्धिविधानसामर्थ्येन प्रकृतिभावस्यापि बाधात् । न च पूर्वसूत्रे धातावित्यस्य अभावे “उपसर्गादिति” इत्यस्य अधातावपि प्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यम् । धाताविति ग्रहणाभावेऽपि उपसर्गेण तस्य आक्षेपसम्भवात् ।

प्रश्नः—उपोडकीयति प्रोधीयति, इत्यत्र पररूपं केन भवति, तत् प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“एङि पररूपम्” इत्यत्र “वा सुपि” इत्यनुवर्तते । तच्चैकवाक्यतया सम्बध्यते । तथा सति अवर्णान्तादुपसर्गादिङादौ सुप्धातौ परे पररूपमेकादेशो वा स्यादित्येवार्थः स्यात् । एवं सति प्रेजते उपोषति इत्यत्र नित्यं पररूपं न

स्यात् । अतो वाक्यभेदेन व्याख्येयम् । तथाहि—“एङि पररूपम्” इति प्रथमं वाक्यम् । अवर्णान्तादुपसर्गादेडादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यादिति तदर्थः । “वा सुपि” इति द्वितीयं वाक्यम् । तत्र “एङि पररूपम्” इत्यनुवर्तते, धातौ उप-सर्गादित्यादि च । ततश्च अवर्णान्तादुपसर्गादेडादौ सुधातौ परे पररूपमेकादेशो वा स्यादित्यर्थः । ‘उप + एङकीयति’ ‘प्र + ओघीयति’ इत्यत्र अनेन विकल्पेन पररूपे ‘प्रोघीयति’ ‘उपेङकीयति’ इति सिध्यतः । विकल्पाभावपक्षे तु “वृद्धिरेचि” इति वृद्धौ ‘उपेङकीयति’ ‘प्रोघीयति’ इति स्तः ।

प्रश्नः—“अकः सवर्णे दीर्घः” इति सूत्रे अचि इत्यनुवृत्तिः किम-
र्था ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—“कुमारी + शेते” इत्यत्र “अकः सवर्णे दीर्घः” इत्यस्मिन् सूत्रे अच्-पदानुवृत्त्यभावे दीर्घेकारशकारयोः विवृतप्रत्ययतन्तालुस्थानतुल्यत्वेन “तुस्यास्यप्रत्ययतनं सवर्णम्” इति सवर्णसंज्ञायां दीर्घेकारात् शकारे सवर्णे परे पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घा-पत्तिः । न च “नाजस्मलौ” इति सूत्रेण तयोः सावर्ण्यनिषेधः इति वाच्यम् ? तत्र सूत्रे अच्पदेन दीर्घादीनां ग्रहणाभावेन दीर्घादीनां हलाच्च परस्परं सवर्णसंज्ञानिषेधस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अच्पदेन दीर्घादीनां ग्रहणम् “अणुदित्” सूत्रेण कर्तव्यम् ? तच्च न सम्भवति, “नाजस्मलौ” इति सूत्रार्थावबोधकाले ग्रहणकशास्त्रस्य “अणुदित्” सूत्रस्य सावर्ण्यविधिनियेधाभ्यां प्रागनिष्पत्त्या “अणुदित्” सूत्रेण ग्राहकत्वेन बोधाभावात् ।

प्रश्नः—“अवङ् स्फोटायनस्य” इत्यस्मिन् सूत्रे ‘अति’ इति कथं निवृत्तमिति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“प्लुतप्रगृह्या” इत्यत्र—“नित्यग्रहणं किमर्थम् ? “इन्द्रे च” इत्या-रम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वलाभात्” इति भाष्योक्तमेव प्रकृते ‘अति’ इति निवृ-त्तौ मानम् । अन्यथा ‘गवेन्द्रः’ इत्यादावत्परत्वाभावादवङोऽप्राप्त्या तदर्थं “इन्द्रे च” इत्यस्यावश्यकत्वादारम्भसामर्थ्यान्नित्यत्वलाभः इति भाष्यकारोक्तिरसङ्गता स्यात् । ‘अति’ इति निवृत्तौ ‘अचि’ इति मण्डूकप्लुत्यनुवृत्तिस्वीकारे च पूर्वसूत्रेणैव तत्रावङ्सिद्धौ ‘इन्द्रे च’ इत्यस्य वैयर्थ्येन तत्सामर्थ्यात् ‘नित्यमिति किम्’ इति भाष्योक्तेः सामञ्जस्यमेवेति दिक् ।

प्रश्नः—“व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः” अस्या आशयः कः इति

प्रतिपादय ।

उत्तरम्—कचिद्भवतीत्यंश एव प्रवर्तते, कचित्तु न भवतीत्यंश एव, कचिदुभयमित्येवं लक्ष्यानुसारेण व्यवस्थया प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषा, “सर्वत्र-विभाषा गोः” इत्यत्राश्रीयते, ततश्च ‘गवाक्षः’ इत्यत्र नित्यमेवावङ् भवतीत्यर्थः ।

अथ प्रकृतिभावः—

प्रश्नः—“प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्” इत्यत्र नित्यग्रहणस्य फलं लिख ।

उत्तरम्—‘हरी + ईशौ’ इत्यादौ “प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्” इत्येतत्सा-
चकाशम्, ‘चक्री + अत्र’ इत्यत्र तु “इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च” इति, ततश्च
‘हरी एतौ’ इत्यादौ परत्वात् “इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च” इति ह्रस्वसमुच्चित
एव प्रकृतिभावो भवेत् । नित्यग्रहणे तु तत्सामर्थ्येन प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञकस्य चाचि
परेऽयमेव प्रकृतिभावो नान्य इति बोध्यते । तेन ‘हरी + एतौ’ इत्यत्र द्विवचनान्त-
स्य ईकारान्तस्य “ईदृदेदृद्विवचनं प्रगृह्यम्” इति प्रगृह्यसंज्ञायामयमेव प्रकृतिभावो
भवति, न तु “इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च” इति ह्रस्वसमुच्चित इति दिक् ।

प्रश्नः—“इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च” इत्यत्र चकारः कर्त-
व्यो नवेति वद ।

उत्तरम्—ननु ‘चक्री + अत्र’ अत्र “इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च” इत्य-
नेन ह्रस्वे कृते “इको यणचि” इति यण् स्यादिति चेद् ? न । ह्रस्वविधानसाम-
र्थ्यात् । अन्यथा प्रकृतसूत्रेण ह्रस्वविधेः वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । एवञ्च प्रकृतिभावस्या-
न्यथासिद्धत्वात्तदनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्य इति भाष्ये स्थितम् ।

प्रश्नः—“अप्लुतवदुपस्थिते” इत्यत्र ‘वत्’ ग्रहणस्य किम्प्रयोजनम् ।

उत्तरम्—“अप्लुतवदुपस्थिते” इत्यत्र वदग्रहणं विहाय ‘अप्लुत उपस्थि-
ते” इत्युक्ते प्लुतस्य स्थाने अप्लुत एव विधीयेत । अतः प्लुत एव निवर्तते ।
ततश्च ‘अग्नी ति’ इत्यत्र सम्बोधनप्रथमाद्विवचनान्तस्यानुकरणे प्रगृह्य ईकारः त्रि-
मात्रो न श्रूयेत । वत्करणे तु ‘अग्नी इति’ इत्यत्र “दूरादृधृते च” इति प्लुते,
तस्यासिद्धत्वात् “ईदृदेदृद्विवचनं प्रगृह्यम्” इति प्रगृह्यसंज्ञायाम् “अप्लुतवदुपस्थि-
ते” इति अप्लुतवद्भावेऽपि “प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्” इति प्रगृह्याश्रये प्रकृति-
भावे जाते प्लुतस्य अवर्णं भवति ।

प्रश्नः—‘मणीवोऽस्य’ इत्यत्र “ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्” इति प्रकृतिभावस्य प्राप्ते सत्यां ‘सवर्णदीर्घः’ कथं भवतीति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—ननु “ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्” इति सूत्रेण ईकारान्तद्विवचनस्य प्रगृह्यसंज्ञा, ततोऽपि परे प्रकृतिभावश्च भवति यथा—‘हरी + एतौ’ इत्यादौ । एवं सति ‘मणी + इव’ इत्यत्रापि तेन प्रकृतिभावः स्यात्, सवर्णदीर्घः कथमिति चेदुच्यते । अत्र न इव शब्दः, किन्तु इवार्थो वशब्दो वाशब्दो वास्तीति सवर्णदीर्घस्यात्राभावात् ।

प्रश्नः—‘रामकृष्णावमू आसाते’ अत्र पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थं इति सुष्ठूपपादय ।

उत्तरम्—स्त्रीलिङ्गे नपुंसकलिङ्गे च “ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्” इति सूत्रदृष्ट्या मुत्वस्यासिद्धत्वेन ‘अदे’ इति रूपे जाते, तत्र पूर्वसूत्रेण “ईदूदेद्” इत्यनेनैव प्रगृह्यसंज्ञा सिद्धा भवतीति “रामकृष्णौ” पदस्योच्चारणं पुँलिङ्गनिर्देशार्थम् । पुँलिङ्गे हि मुत्वस्यासिद्धत्वेन ‘अदौ’ इति रूपम्, तत्र पूर्वसूत्रेण सर्वथैव प्रकृतिभावासिद्धे मात्परस्योकारस्य प्रगृह्यसंज्ञाया इदमेवापूर्वं फलम् । अतः प्रकृते—‘रामकृष्णावमू आसाते’ इति निर्दिष्टम् ।

प्रश्नः—“अदसो मात्” इत्यस्मिन् सूत्रे माद्वग्रहणं किमर्थमिति वद ।

उत्तरम्—“अदसो मात्” इत्यत्र माद्वग्रहणाभावे “संनियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः” इति परिभाषया “ईदूदेत्” इति सूत्रात् ईकारादीनां त्रयाणामनुवृत्तिः “अदसो मात्” इत्यत्र स्यात् । तेन ‘अमुकेऽत्र’ इत्यत्रापि प्रगृह्यसंज्ञा प्रकृतिभावश्च स्यात् । तन्निवारणार्थं प्रकृते माद्वग्रहणमावश्यकम् । माद्वग्रहे कृते तु मकारात्परस्य एकारस्यासम्भवात् न तत्र प्रकृतिभावः ।

प्रश्नः—“इको यणचि” इत्यनन्तरमेव “मय उजो वा” इति पठितव्यम् वोऽग्रहणञ्च न कर्तव्यं, एवं कृते किं रयादिति लिख ।

उत्तरम्—यदि षष्ठाध्यायस्य प्रथमे पादे “इको यणचि” इत्यनन्तरं मयः परस्य उजो यणादेकविकल्पो विधीयेत, तर्हि ‘किमुक्तम्’ इत्यत्र “मोऽनुस्वारः” इति मकारस्य वकारे परे अनुस्वारः स्यात् । त्रिपात्रं वत्वविधौ तु तस्यासिद्धत्वान्नुस्वारः । त्रिपात्रमनुस्वारविध्यपेक्षया वत्वविधेः परत्वात् ।

प्रश्नः—“ईदुतौ च सप्तम्यर्थे” अत्र सूत्रे ‘अर्थग्रहणं’ किमर्थमिति

सुष्ठु प्रतिपादय ।

उत्तरम्—ननु अर्थग्रहणाभावेऽपि ईदृशं सप्तमीविशेषणत्वेन; प्रत्ययांशे च तदादिविशेषणत्वेन तदन्तविधिद्वयेन ईदृशं यत्सप्तम्यन्तं तत् प्रगृह्यसंज्ञकं स्यादित्यर्थं नैवेष्टसिद्धेरर्थग्रहणं व्यर्थमेव । न च 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इति तदन्तविधिनिषेधेनोक्तार्थासम्भव इति वाच्यम् । 'ईदूतौ सप्तमी प्रगृह्यम्' अदसः 'एच द्विवचनम्' इत्येव सूत्रयितव्ये गुरुभूतन्यासकरणसामर्थ्यात् । 'ययी' 'पपी' इत्यादौ परादिवद्भावेन सप्तमीत्वमादाय सूत्रसाफल्येऽपि उकारांशोऽसम्भवः कच । इति चेद् ? न । अर्थग्रहणेन सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वैव ईकारान्तस्य उकारान्तस्य वा तत्संज्ञाबोधनात् । एवञ्च 'गौरी अधिश्रितः' 'तनू इति' इत्यत्र ईकारान्ते उकारान्ते च सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वस्य (सप्तम्यर्थनिरूपितशक्तिपर्याप्ताधिकरणत्वस्य) सत्त्वेन प्रगृह्यसंज्ञासिद्धिः । 'वाप्यश्व' इत्यत्र समासघटकवापीशब्दस्य प्रत्ययलक्षणेन सप्तम्यन्तत्वेऽपि समासे समुदाये शक्तिस्वीकारेण सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वाभावेन न प्रगृह्यसंज्ञेति दिक् ।

इत्यहसन्धिः ।

अथ हल्सन्धिः ।

प्रश्नः—“न पदान्ताष्टोरनाम्” इत्यत्र टोः ग्रहणं किमर्थमित्युपपादय ।

उत्तरम्—ननु ‘तोः षि’ इति निर्देशेन “क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते” इति परिभाषया “ष्टुना” इति सूत्रात् टुमात्रस्यानुवृत्तौ पदान्ताद्वर्गात्परस्य इत्याद्यर्थं नैवेष्टसिद्धेः टोः ग्रहणं व्यर्थमेव । तदेव व्यर्थं सत् उक्तपरिभाषाया अनित्यत्वं ज्ञापयति । एवञ्च टोर्ग्रहणाभावे “सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः” इति परिभाषया “ष्टुना ष्टुः” इत्यतः “न पदान्तात्” इत्यत्र टोरनुवृत्त्या पदान्तात् षकारवर्गात्परयोः स्तोः षुर्न इत्यर्थेऽपि पदान्तषकारस्य जश्त्वेन ङकारस्यैव सम्भवात् । ततः परस्य ष्ट्वनिषेधस्येष्टत्वात् अतिप्रसङ्गाभावेन सूत्रे टोरिति व्यर्थमेवेति चेत् ? न । सर्पिष्टममित्यत्र “ह्रस्वात्तादौ तद्धिते” इत्यनेन विहितस्य षत्वस्यासिद्धत्वेन अष्ट्वाप्रवृत्तौ पदान्तषकारादपि ष्ट्वनिषेधापत्तेस्तद्वाराण्य सूत्रे टोर्ग्रहणस्यावश्यकत्वात् ।

प्रश्नः—“चतुर्मुखः” इत्यत्र “यरोऽनुनासिके” इति अनुनासिकः

कुतो नेति दर्शय ?

उत्तरम्—ननु 'चतुर्मुखः' इत्यत्र "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" इति सूत्रेण पदान्तस्य यरो—रेफस्य, अनुनासिके—मुखशब्दावयवमकारे परे अनुनासिकः मूर्ध-स्थानजन्यो णकारः कुतो नेति चेत् ? उच्यते—"स्थानेऽन्तरतम उरण्परः" इति संहितापाठे प्रथमान्तपाठस्वीकारे स्थानिनः स्थाने अन्तरतम एवादेशो भवतीति यथा नियमः, तथा भाष्यकृता "स्थानेऽन्तरतमे" इति सप्तम्यन्तपाठं स्वीकृत्य आदेशो अन्तरतमे स्थानिनि भवतीत्यर्थं व्याख्याय आदेशोऽपि अन्तरतमस्यैव स्थानिनः स्थाने भवतीति नियमः स्वीकृतः । एवञ्च स्थानप्रयत्नाभ्याम् अन्तरतमे स्पर्शो कादिमान्तवर्णे चरितार्योऽयमनुनासिकविधिः केवलस्थानेन सदृशे रेफे न प्रवर्तते । नन्वेवं तर्हि क्वचित् प्रथमान्तपाठस्य क्वचित् सप्तम्यन्तपाठस्य स्वीकारे अर्धजरस्यापत्तेः द्विघेकारादौ यणानापत्तेश्च, इति चेत् ? न । "अनुस्वारस्य यदि परसवर्णः" इति सूत्रात् सवर्णपदमाकृष्य प्रकृतसूत्रे संयोज्य पदान्तस्य यरोऽनुनासिके परे सवर्णानुनासिकः स्यादिति सूत्रार्थं 'रेफोऽम्पणां सवर्णा न सन्ति' इति भाष्येण रेफस्य सावर्ण्याभावात् णत्वाभाव इति समाधानात् ।

प्रश्नः—"ककुद्मन्तः" इत्यत्र ककुद् शब्दात् मतुपि प्रत्यये, परे "प्रत्यये भाषायां नित्यम्" इति नित्यानुनासिकेन भाष्यम् ? तदभावश्चात्र कथमिति स्पष्टं प्रतिपादय ।

उत्तरम्—"मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इति यवादिगणे प्रकृतिप्रत्ययस्य पाठात् अनुनासिकाभावः । वस्तुतस्तु "य चिभं तलौ मत्वर्थे" इति संहितापाठे तकारात्प्राक् चत्वेन दकारप्रक्षेपात् भत्वेन पदत्वाभावादनुनासिकस्य न प्राप्तिः । पदान्तस्यैव यरः तेनानुनासिकत्वविधानादित्यलम् ।

प्रश्नः—"मोनुस्वारः" इत्यत्र "पदस्य" इत्यनुवर्तनफलं लिख ।

उत्तरम्—ननु "नश्चापदान्तस्य झलि" इति सूत्रे मकारानुकर्षणार्थकचकारेण अपदान्तस्य मस्य अनुस्वारश्चेत्तर्हि सत्ययेवेति नियमादेव 'गम्यते' इत्यत्र अनुस्वारो न भविष्यदीति चेत् ? न । झलि परतः अनुस्वारश्चेत्तर्हि अपदान्तस्यैव मस्य इति विपरीतनियमेन 'हरिं वन्दे' इति मूले एव अनुस्वारानापत्तेः । एवं च "झनि च पदे" इत्यतः पदानुवृत्तिः कार्येति दिक् ।

प्रश्नः—"कुर्वन्ति" इत्यत्र "रवाभ्यां नो णः समानपदे" इति णत्वं

कृतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“कृणो णि, तत्स्थाने झौ “तनादिङ्भ्य ङः” इत्यनेन उपत्यये “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इत्यनेन गुणे “अत उव सार्वधातुके” इत्यनेन उदादेशे “झोऽन्तः” इत्यनेन शेरन्तादेशे यणादेशे च कृते ‘कुर्वन्ति’ इति सिध्यति ।

ननु ‘कुर्वन्ति’ इत्यत्र “अट्कुप्वाङ्नुम्वयवायेऽपि” इत्यनेन रेफात् अङ्ग्यव-
हितनकारस्य सत्त्वेन णत्वं स्यादिति चेत् ? उच्यते—“कुर्वन्ति” इत्यत्र “अट्-
कुप्वाङ्नुम्” इति णत्वे प्राप्ते तस्यासिद्धत्वात् “नङ्वापदान्तस्य झलि” इति न-
कास्यानुस्वारादेशे “अनुस्वारस्य यजि परसवर्णः” इति सूत्रेण तस्य परसवर्णेन न-
कारादेशे परसवर्णस्य णत्वदृष्ट्या असिद्धत्वात् न णत्वप्रवृत्तिः ।

प्रश्नः—“पुंख्यानम्” इत्यत्र “पुमः खय्यम्परे” इति रुः कथं न
‘ख्याजादेशे न’ इति अपूर्वं वार्तिकं न वेति च दर्शय ।

उत्तरम्—ननु चक्षिणो ल्युटि “खशादिरयमादेशः” इति प्रकृतसूत्रस्य-
भाष्यात् “चक्षिः ख्याञ्” इति सूत्रेण खशाजादेशे “शस्य यो वा” इत्यनेन शस्य
यत्वे/तस्यासिद्धप्रकरणस्थणत्वविधायकशास्त्रान्तरपाठेन “पुमः खय्यम्परे” इत्ये-
तद्दृष्ट्या असिद्धत्वात् अप्रसक्तत्वाभावेन “पुमः खय्यम्परे” इत्यस्याप्राप्त्या न
रुत्वम् । इत्यतन्मूलकमेव “ख्याजादेशे न” इति वचनं नापूर्वमिति दिक् ।

प्रश्नः—“कुप्वोः (क) (पौ च) इदं शास्त्रं “विसर्जनीयस्य सः”
इत्यस्यैव बाधकम्, न तु “शर्परे विसर्जनीयः” इत्यस्य इति कथ-
मुक्तम्, तत् प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति” इति
हि न्यायस्वरूपम् । तथाहि—यकर्तृकावश्यप्राप्तौ सत्यां यो विधिरारभ्यते; स तस्य
बाधको भवतीत्यर्थः । यत्र यत्र “कस्कादिषु च” इत्यस्य प्रवृत्तिः, तत्र तत्र “कुप्वोः
(क) (पौ च)” इत्यस्य प्राप्तिरिति “कुप्वोः (क) (पौ च)” इति शास्त्रकर्तृकाव-
श्यप्राप्तौ सत्यां “कस्कादिषु च” इत्यस्य आरम्भ इति, “कस्कादिषु च” इति
(क) (पौ) बाधकं भवति । सकललक्ष्यप्राप्तसूत्रस्यैवापवादो भवतीत्यर्थः ।

एवं च “विसर्जनीयस्य सः” इत्यस्य सकललक्ष्येषु प्राप्तिरित्यस्यार-
म्भो न तु “शर्परे” इत्यस्य सर्वत्र प्राप्तिरिति “कुप्वोः” सूत्रं सकललक्ष्यप्राप्तविसर्ज-
नीयस्येति सूत्रस्यैव बाधकम्, नतु क्वचित्प्राप्तिविषय—“शर्परे विसर्जनीयः”

इत्यस्य, एवञ्च 'वासः क्षौमम्' इत्यादौ "शर्पः" इत्येव परत्वात् बाधकमिति दिक् ।

प्रश्नः—'चेच्छ्रुयते' इत्यत्र "दीर्घात्" इति पञ्चमीनिर्देशेन "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" इति न्यायेन छस्य तुक् कुतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—ननु "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" इति परिभाषया "तस्मिन्" इत्यतः "तस्मादित्युत्तरस्य" इत्यस्य प्राक्त्वबोधनात् तदुपस्थित्या "दीर्घाद्" इति पञ्चम्या छेदितिसम्याः षष्ठीप्रकल्पनेन दीर्घात्परिभूतस्य छस्य तुगित्यर्थे छस्य तुगागमे छकारोपरि चकारश्रवणापत्तिर्दुर्वारिति चेद् ? न । "सेना-सुराच्छाया" इति सूत्रनिर्देशात् "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" इति परिभाषां बाधित्वा दीर्घादितिषष्ठ्यर्थे पञ्चमीकल्पनेन दीर्घस्यैवायं तुक्, न तु छस्य इत्याशयात् ।

इति हलसन्धिप्रकरणम् ।

अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम् ।

प्रश्नः—'मातुः कृपा' इत्यत्र "इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य" इत्यनेन विसर्गस्य षत्वं कुतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—"इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य" इति सूत्रेण 'आतुष्पुत्रः' इत्यत्रापि षत्वसिद्धौ 'आतुष्पुत्रशब्दस्य पाठो कल्कादिषु विफलः, स एव व्यर्थं सज्ज्ञापयति—'एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम्' इति, तेन 'मातुः कृपा' इत्यत्र एकादेशशास्त्रसम्पन्नरेफस्थानिकत्वेन विसर्गस्य न षत्वम् । न च "षत्वतुकोरसिद्धः" इति सूत्रेण एकादेशशास्त्रस्यासिद्धत्वात् कल्कादिषु 'आतुष्पुत्रशब्दस्य पाठः सफल इति वाच्यम् ? पदान्तपदाधोरेवैकादेशशास्त्रस्य असिद्धत्वमेव तत्र स्वीकारात् ।

प्रश्नः—"द्विस्त्रिचतुरिति कृत्वोऽर्थे" अत्र कृत्वार्थे इति ग्रहणं किमर्थमिति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—"सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्" इति परिभाषया सुजन्ताभ्यां द्वित्रिशब्दाभ्यां साहचर्यात् सुजन्तस्यैव चतुःशब्दस्यापि ग्रहणं भविष्यतीति 'चतुष्कपाल' इत्यत्र सुजन्तत्वाभावात् विकल्पपक्षत्वाप्राप्तौ कृत्वोर्थ-ग्रहणं व्यर्थम् । तदेव व्यर्थं सत् साहचर्यं सर्वत्र न नियामकमिति बोधयति । तेन

“दीधीवेवीटाम्” इति सूत्रे दीधीवेवीतिधातुद्वयसाहचर्येऽपि इट्गताविति धातोर्न ग्रहणम्, किन्तु आगमस्यैव इटो ग्रहणं भवतीति फलमित्यलम् ।

प्रश्नः—‘सर्पिष्कुण्डिका’ इत्यत्र “नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य” इति “इसुसोः सामर्थ्ये” इति वा विसर्गस्य षत्वसिद्धे कस्कादिगणे तस्य पाठः किमर्थः तदुपपादय ।

उत्तरम्—‘नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य’ इत्यनेन समासे एव षत्वं विधीयते, यथा—सर्पिषः कुण्डिका सर्पिष्कुण्डिका इत्यत्र । “इसुसोः सामर्थ्ये” इत्यनेन तु व्यपेक्षारूपसामर्थ्ये एव षत्वं विधीयते ‘सर्पिष्करोति’ इत्यादौ । यदा तु तिष्ठतु सर्पिः कुण्डिकामानय इति प्रयोगः, तत्र सर्पिष्कुण्डिकामिति षत्ववदितम् यथा स्यादित्येतदर्थं कस्कादिगणे पाठः । अपरं च व्यपेक्षायां “इसुसोः सामर्थ्ये” इति विकल्पेन षत्वं भवति, कस्कादिगणे पाठेन व्यपेक्षायामपि सर्पिष्कुण्डिकायामित्येकमेव स्यादिति तदर्थमपि कस्कादिगणे तस्य पाठः इत्यलम् ।

इति विसर्गसन्धिप्रकरणम् ।

अथ स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

प्रश्नः—“अतो रोरप्लुतादप्लुते” इत्यत्र अप्लुतादिति किमर्थमिति तदुपपादय ।

उत्तरम्—“अतो रोरप्लुतादप्लुते” इत्यत्र अप्लुतादित्यस्याभावे “एहि सुओतः अत्र स्नाहि” इति वाक्ये पूर्ववाक्यस्य टेः “दूरादप्लुते च” इत्यनेन प्लुतविधानात् पदान्तस्य रोः प्लुतात्परत्वेन तत्रोत्वं मा भूत् इति सूत्रे अप्लुतादिति पदम् । नचात्र अप्लुतादितिविशेषणाभावेऽपि सत इति तपरकरणेन ह्रस्वाकार एव गृह्यते इति नात्रोत्वं स्यादिति वाच्यम् ? प्लुतस्यासिद्धत्वेन अतः परत्वात् । अप्लुतादिति कृते तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम् । यदि प्लुतोऽसिद्धः स्यात्तदा सर्वत्रैव अप्लुताकार एव उपलभ्येत; अप्लुतादिति विशेषणन्तु व्यर्थमेव स्यात् । तपरकरणं तु दीर्घाकारात्परस्य क्तत्वस्य उत्त्वारणेन चरितार्थमिति तपरकरणसामर्थ्यान्नात्रोत्त्वमिति वक्तुमशक्यमित्यलम् ।

प्रश्नः—“ओभगोभो अपूर्वस्य योऽशि” इत्यत्र अशिग्रहणं किमर्थम् ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु “भोमगो” इत्यत्र अक्षग्रहणाभावेऽपि ‘देवास् + सन्ति’ इत्यत्र “ससजुषो रुः” इति कृत्वे “भोमगो” इति यत्वे कृते तस्य पूर्वत्रासिद्धी-यत्वेनासिद्धत्वात् “खरवसानयोर्विसर्जनीयः” इति त्रिसर्गे सति ‘देवाः + सन्ति’ इति सिध्यतीति चेद् ? न । त्रिसर्गे जातेऽपि विसर्गस्य “स्थानिवद्भावेऽनलिव-धौ” इति स्थानिवद्भावेन कृत्वातिदेशे पुनरपि यत्वापत्तेः । कृते चाक्षग्रहणे सकारस्याश्रुत्वाभावान्न यत्वमिति । नच “अनलिवधौ” इति स्थानिवद्भावनिषेध इति वाच्यम् । शेरिति समुदायरूपाभ्युपेयनादोषात् ।

प्रश्नः—“उञ्जि च पदे” इत्यस्मिन् सूत्रे पदेग्रहणं किमर्थं तदुपाद्य ।

उत्तरम्—पदे इत्यस्याग्रहणे ‘तन्त्रय्—उतम्’ इति स्थितौ उज्ज्वरत्वात् यलोपापत्तिः, तद्वारणाय पदे ग्रहणमावश्यकम् । सति च तस्मिन् उज्ज्वरत्वेऽपि तस्य पदत्वाभावान्न तदापत्तिः । न च “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्” इति परिभाषया चादिपठितप्रतिपदोक्तस्यैवान्न सूत्रे उज्जो ग्रहणेन सम्प्रसारणनिष्पन्नस्य लाक्षणिकस्य तस्याग्रहणात् तन्नत्योक्तदोषव्यावृत्तौ सत्यां व्यर्थमेव पदेग्रहणमिति वाच्यम् । उत्तरार्थत्वेन तस्य चारितार्थात् ।

प्रश्नः—“दूळोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः” अत्र सूत्रे पूर्वस्येति ग्रहणं किमर्थम् ? तदुपाद्य ।

उत्तरम्—ननु “दूळोपे पूर्वस्य” इत्यस्मिन् सूत्रे दूळोपे इति सप्तमी निर्देशात् “तस्मिन्” इति परिभाषया पूर्वोक्तोपस्थित्या ‘पुना रमते’ इत्यादौ पूर्वस्यैव दीर्घो भविष्यतीति किं पूर्वग्रहणेनेति चेद् ? न । पूर्वग्रहणाभावे हि “अलुगुत्तर-पदे” इति सूत्रादुत्तरपदानुवृत्त्या ‘नीरक्तम्’ ‘दूरक्तम्’ इत्यादिसमासस्थले एव दीर्घो भविष्यतीति ‘लोटः, अजघाः’ इत्यादौ दीर्घोऽसिद्धेः । तस्मात् पूर्वग्रहणं कर्तव्यमेव । कृते हि तस्मिन् तत्सामर्थ्यात् उत्तरपदानुवृत्तौ समासेऽसमासे च सर्वत्रैव दीर्घः सिध्यतीति दिक् ।

इति स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

अथाजन्तपुल्लिङ्गप्रकरणम् ।

प्रश्नः—“अर्थवद्धानुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्” इत्यनेनैव प्रातिप-
दिकसञ्ज्ञासिद्धौ समासग्रहणं किमर्थम् ? तदुपाद्य ।

उत्तरम्—“प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्” इति परिभाषया ‘राजन् + ङस्’ ‘पुरुष + सु’ इति समुदायवटक राजन् ङस् इत्यस्य पुरुष सु इत्यस्य च प्रत्ययान्ततदादित्वेऽपि राजन् ङस् पुरुष सु, इति समुदायस्य प्रत्ययान्ततदादिभिन्नत्वात् “अर्थवद्” इति सूत्रेणैव प्रातिपदिकसञ्ज्ञासिद्धौ समासग्रहणं व्यर्थं सत् यत्र समुदाये पूर्वा भागः पदं तस्य समुदायस्य प्रातिपदिकसञ्ज्ञा चेत् तर्हि समासस्यैवेति नियमयति । तेन ‘गामानय’ इति वाक्यस्य प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न भवतीति फलम् । नच ‘जन्मवान्’ इत्यत्रापि पूर्वभागस्य पदत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न स्यादिति वाच्यम् ? उत्तरस्तु प्रत्ययो न इति निवेशात् । न चैवमर्थस्वीकारेऽपि ‘अयम् हयान्’ इत्यादौ दोष इति वाच्यम् ? उत्तरस्तु तत्प्रकृतिकप्रत्ययो न इति निवेशेनादोषात् ।

प्रश्नः—“प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” इत्येव सिद्धे “ङ्याप्प्रातिपदिकात्” इत्यत्र ङ्याप्ग्रहणं किमर्थम् ? तद् सम्यगुपपादय ।

उत्तरम्—रामा गौरी इत्यादौ प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति परिभाषया प्रातिपदिकधर्मस्यानयनेन प्रातिपदिकादित्यनेनैवेष्टसिद्धौ ङ्याप्ग्रहणं व्यर्थं सत् ङ्यावन्तादेव तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात् ङ्याङ्भ्यां प्राङ्मा भूदित्येतदर्थं बोधयति । अन्यथा ‘स्वार्थ-द्रव्य लिङ्ग-सङ्ख्या कारकाणां क्रमशः स्वीकारः, इति न्यायेन आर्यशब्दात् पूर्वं स्वार्थिकत्वेन कप्रत्यये ततश्चापि आकारस्थानिकाकारस्याभावेन “उदीचामातः स्थाने” इत्यस्याप्रवृत्तौ “प्रत्ययस्थात्कात्” इत्यनेनैव नित्यमित्वे “आर्थिका” इत्येकमेव रूपं स्यात् । कृते हि ङ्याप्ग्रहणे तत्सामर्थ्यात् पूर्वं टापि ततः कप्रत्यये “केऽङः” इति ह्रस्वे आकारस्थानिकाकारस्य सत्त्वेन “उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः” इति सूत्रेण वैकल्पिकत्वेन ‘आर्थिका’ ‘आर्थिका’ इति रूपद्वयं सिध्यति । रक्तवर्णस्त्रीवाचकलोहितशब्दात् “वर्णादनुदात्तात्तोपधातो नः” इति ङीपः प्राक् कनूप्रत्ययस्य अन्तरङ्गस्य च प्राप्तावुत्करीत्या प्रथमं ङीपि तत्सन्नियोगेन नत्वे च ततः कनि ह्रस्वे ‘लोहितिका’ इति, वैकल्पिकङीपनत्वाभावे तु ‘लोहितिका’ इति भवतीति फलम् । अन्यथा स्वार्थिकः कनि ‘लोहितिका’ इति एकमेव रूपं स्यात् ।

प्रश्नः—राम अस इत्यत्र “प्रथमयोः पूर्वसवर्णः” इति शास्त्रम्

“अतो गुणे” इत्यनेन अपवादात्वात् कथं न बाध्यते तत् प्रतिपाद्य ।

उत्तरम्—राम + अस् इति स्थिते “अकः सवर्णे दीर्घः” इत्यनेन सवर्णदीर्घः प्राप्तः “प्रथमयोः पूर्वसवर्णः” इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घश्च प्राप्तः “अतो गुणे” इत्यनेन पररूपं च प्राप्तम् इति, यत्र यत्र अपदान्तादकारादपे ह्रस्वाकारः तत्र तत्र सर्वत्र सवर्णदीर्घस्य क्वचित्च प्रथमाद्वितीयास्थले पूर्वसवर्णदीर्घस्य च प्राप्तिरिति पररूपस्य निरवकाशस्य सकललक्ष्यप्राप्तसवर्णदीर्घस्य बाधकत्वम् । सवर्णदीर्घ-बाधेन चारिताध्यै पूर्वसवर्णदीर्घस्य बाधे निरवकाशस्वरूपबाधबीजस्याभावेन न पूर्वसवर्णदीर्घस्य बाधकत्वम् । किन्तु पूर्वसवर्णदीर्घस्यैव परत्वेन प्राबल्यात्प्रवृत्तिरिति । एवं हि अष्टाध्यायां पाठः—“अतो गुणे” “अकः सवर्णे दीर्घः” “प्रथमयोः पूर्वसवर्णः” इति अपवादाशङ्कस्य प्राथम्यम्, बाध्यशास्त्रस्य च अनन्तरोत्तरत्वम्, इति पुरस्तादपवादाः—प्राग्वर्तिनो अपवादाः, अनन्तरान्-सन्निहृष्टान्, विधोन् बाधन्ते नोत्तरान् अनन्तरापेक्षया व्यवहितानिति तदर्थः । तथाच “अतो गुणे” इति सूत्रं सवर्णदीर्घमेव बाधते, नतु पूर्वसवर्णदीर्घमिति न दोष इति दिक् ।

प्रश्नः—सम्बुध्याक्षिसस्याङ्गस्य षड्ह्रस्वाभ्यां विशेषणान्नेह हे कतरत् कुलेति इयं फक्किका युक्तियुक्तमुपपादनीया ।

उत्तरम्—येन विना यदनुपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते’ इति न्यायात् अङ्गस्याक्षेपः क्रियते । ‘येन यदाक्षिप्यते तत्तेनान्वेति’ इति नियमानुसारेण सम्बुध्याक्षिसस्य अङ्गपदस्य सम्बुद्धिपदेनैव अन्वयस्योचितत्वेन अङ्गात्परा या सम्बुद्धिः तदवयवो हल् लुप्यते, स च हल् षड्ह्रस्वाभ्यां परिभूतश्चेत् इत्यर्थाङ्गीकारे हे कतरत् इत्यत्र तका-रस्य लोपापत्तिः, तद्वारणाय अङ्गात्परा या सम्बुद्धिः तदवयवो हल् लुप्यते, सा च सम्बुद्धिरेह ह्रस्वाभ्यां परिभूतश्चेदित्यर्थाङ्गीकारे हे कुल इत्यत्र एकदेशविकृतन्या-येन छान्तभागस्याङ्गत्वे परादिवद्भावेन सम्बुद्धित्वे जाते सति ह्रस्वात्परासम्बुद्धि-र्नास्ति इति मलोपो न स्यादिति क्वचिदन्येनाक्षिसस्य पदार्थस्य अन्यत्राभ्यवो भवति । तेन सम्बुध्याक्षिसस्याङ्गस्य षड्ह्रस्वाभ्यां विशेषणात् तदन्तविधौ पृक्तान्ता-दङ्गत्वान्तात्वाङ्गादलुप्यते सम्बुद्धेश्चेद् इत्यर्थः सम्पन्नः । तथाच—प्रकृते कतरदित्यत्र यदङ्गं तन्न ह्रस्वान्तं, यद् ह्रस्वान्तं तन्नाङ्गमिति कतरदित्यत्र ह्रस्वात्ताङ्गस्याभावेन न लोपापत्तिः । कुलमित्यत्र पूर्वान्तवद्भावेन अङ्ग-माणीय ह्रस्वान्ताङ्गात्परस्य सम्बुद्धयवयवस्य मस्य लोपे ‘हे कुल’ इत्यस्य सिद्धिः ।

प्रश्नः—“एङ्प्रहणात् सम्बुद्धेः” इति सूत्रे एङ्प्रहणं किमर्थमिति दर्शय ।

उत्तरम्—ननु ‘एङ्प्रहणात् सम्बुद्धेः’ इति सूत्रे एङ्प्रहणाभावे हरिशब्दात् विष्णुशब्दाद्वा सम्बुद्धिसंज्ञकसुप्रत्यये ह्रस्वात्परत्वेनव सुलोपे, ततः प्रत्ययलक्षणेन “ह्रस्वस्य गुणः” इति गुणे ‘हे हरे, हे विष्णो’ इति सिद्धावेङ्प्रहणं व्यर्थमिति चेद् ? न । ह्रस्वात् परत्वेन सुलोपस्य प्राप्तावपि परत्वेन नित्यतया च “परनित्या-न्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं लीयः” इति परिभाषानुसारेण “ह्रस्वस्य गुणः” इत्यस्य प्राबल्येन गुणे जाते ह्रस्वात्परत्वं नास्तीति सुलोपाऽप्रवृत्तौ, तदर्थमेङ्प्रहणस्यावश्यकत्वात् ।

प्रश्नः—“यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्” इत्यत्र विधिप्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—इदंशब्दाद्वत्तुपि ‘किमिदंभ्यां वो घः’ इति वस्य स्थाने घादेशे “आयनेयीनीयियः फडखछघां प्रत्ययादीनाम्” इति घस्य स्थाने ह्यादेशे ह्यदिति जाते “इदं किमोरीशकी” इति इदमः ईशादेशे तस्य “यस्येति च” इति लोपे “ङगितश्च” इति ङीपि ह्यतीति सिद्धम् । तस्य स्त्रीशब्दसमभिव्याहारे ‘स्त्री + ह्यती’ इत्यवस्थायां विधिप्रहणाभावे यस्मात्प्रत्ययः परस्त्वस्मिन्तदङ्गसंज्ञमित्यर्थे ह्यत्प्रत्ययस्य स्त्रीशब्दात्परत्वेन तस्मिन् स्त्रीशब्दस्याङ्गसंज्ञायां ‘स्त्रियाः’ इत्यनेनेयङापत्तिः । तदर्थं विधिप्रहणं कर्तव्यमेव । कृते विधिप्रहणे ह्यत्प्रत्यये परे स्त्रीशब्दस्य नाङ्गत्वम् । स्त्रीशब्दात् ह्यतोऽविधानादिति दिक् ।

प्रश्नः—“यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्” इत्यत्र ‘प्रत्यये’ इति किमर्थम् ।

उत्तरम्—प्रत्ययप्रहणाभावे ‘देवदत्त ओङ्गमपाक्षीत्’ इत्यत्र देवदत्तोत्तरवर्तिसुप्रत्ययमवलम्ब्य देवदत्त ओङ्गमपाक्षीदिति समुदायस्याङ्गसंज्ञायां देवदत्तात्पूर्वमपि अङ्गागमापत्तिरिति प्रत्यये इति पदं कर्तव्यम् । कृते च प्रत्ययप्रहणे सुप्रत्यये परतः देवदत्तस्यैवाङ्गसंज्ञा भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—“रामात्” इत्यत्र सन्निपातपरिभाषा कथं प्रवर्तते, तस्या निवारणञ्च कया रीत्या भवतीति सुभूषपादय ।

उत्तरम्—रामशब्दात् केविभक्तौ ‘केवंः’ इति सूत्रेणादस्तादृक्षात् परत्वेन

हेइत्यस्य स्थाने यादेशो “स्थानिविदादेशोऽनलिवधौ” इति स्थानिविज्ञाप्तेन यादेशो ‘हे’ वृत्तिपुसस्यातिदेशेन “सुपि च” इत्यनेन दीर्घं ‘रामाय’ इति सिद्ध्यति । ननु अदन्ताङ्गं निमित्तीकृत्य जायमानो यादेशोऽदन्ताङ्गविघातकोदीर्घप्रवृत्तिं प्रति निमित्तं नेति “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य” इति परिभाषया निमित्तत्व-निषेधे कथं दीर्घप्रवृत्तिरिति चेद् ? न । “कष्टाय क्रमणे” इत्यत्र सूत्रकारकृतदी-र्घनिवृद्धेशेन सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वज्ञापनेन तस्या यादेशनिमित्तक “सुपि च” इति दीर्घविषयेऽप्रवृत्तेः ।

प्रश्नः—“बहुवचने भल्येद्” इति सूत्रे बहुवचने इति ग्रहणं कि-मर्थं तदुपपादय ।

उत्तरम्—“बहुवचने झल्येद्” इति सूत्रे बहुवचनग्रहणाभावे झलादौ सुपि अदन्ताङ्गस्य एत्वं भवति इत्यर्थं ‘राम + स्’ इत्यत्र रामस्य इत्यत्र च झलादि सुप्-परत्वेन रामइत्यदन्ताङ्गस्यैत्वं स्यात् । अतः सूत्रे बहुवचनग्रहणमावश्यकम् । न च सर्वत्र एकमेव प्रत्युदाहरणं दृश्यते, अत्र प्रत्युदाहरणद्वयं किमर्थमिति वाच्यम् । “स्वौजसमौट्” इत्यत्र “वौजसमौट्” इति न्यासकरणेन रामशब्दात् इत्येव तस्य झलदित्वाभावेन रामः इत्यत्र एत्वाप्राप्त्या रामस्य इति द्वितीयोदाहरणस्य आव-श्यकत्वमित्याशयात् ।

प्रश्नः—“बहुवचने भल्येद्” इत्यत्र झलि ग्रहणं किमर्थं तदुपपादय ।

उत्तरम्—“उतो वृद्धिर्लुकि हलि” इति सूत्रात् हलि इति पदमनुवर्त्य रा-माणामित्यत्र हल्परत्वेऽपि सन्निपातपरिभाषया एत्वं न स्यादिति झल्ग्रहणं व्यर्थ-मेव । तदेव व्यर्थं स एत्वं कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषा न प्रवर्तते इति ज्ञापयति । एवं च झल्ग्रहणाभावे रामाणामित्यत्र एत्वं स्यादेवेति स्वांशे झल्ग्रहणं चरिता-र्थम् । फलञ्च सर्वेषामित्यत्र एत्वसिद्धिः । अन्यथा अदन्तसन्निपातेन जायमानः सुट् अदन्तस्य विघातको न स्यादिति दिक् ।

प्रश्नः—रामाणामित्यत्र परत्वात् “सुपि च” इति दीर्घः कुतो न, “नामि” इत्यनेन सन्निपातपरिभाषा कथं बाध्यते तदुपपादय ।

उत्तरम्—नन्वत्र ‘राम + नाम्’ इति स्थिते “नामि” इत्यस्य हरीणामि-त्यादौ चरितार्थेन “सुपि च” इत्यस्य रामाय इत्यादौ चरितार्थेन च तुल्यबलविरो-धिना “सुपि च” इत्यनेन “विप्रतिषेधे परं कार्यम्” इति शास्त्रबलात् दीर्घः स्यात्,

न “नामि” इत्यनेन, इति चेद् ? न । “सग्निपातलक्षणे विधिरनिमित्तं तद्विधा-
तस्य” इति परिभाषया ह्रस्वान्तमङ्गं निमित्तीकृत्य जायमानस्य जुटो ह्रस्वान्ताङ्ग-
विधातकदीर्घप्रवृत्तिं प्रति अनिमित्तत्वबोधनेन यत्रादित्वधर्मपुरस्कारेण प्रवर्तमानस्य
“सुपि च” इति शास्त्रस्याप्राप्तेः । “नामि” इति तु आरम्भसामर्थ्यात् परिभाषां
बाधते इत्यलम् ।

प्रश्नः—“सर्वादीनि सर्वनामानि” इति सर्वनामसञ्ज्ञा तदन्तस्य
स्यान्न वा, स्याच्चेत् तत्र ज्ञापकं किम् ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—“सर्वादीनि सर्वनामानि” इति सूत्रे सर्वादीनीति पदस्य शब्द-
स्वरूपमिति विशेष्यमादाय “द्वन्द्वे च” इति सूत्रेण विशेषत्वबोधनेन “येन वि-
धित्तदन्तस्य” इति सूत्रसहाय्येन सर्वादीनां सर्वाद्यन्तशब्दस्वरूपाणां च सर्वनाम-
सञ्ज्ञा भवतीति सूत्रार्थः । एवं च सर्वशब्दस्य यथा सर्वनामसञ्ज्ञा तथा परमस-
र्वइत्यस्यापि । तेन परमसर्वशब्दात् अल् सिध्यति । एवं सर्वादिगणपठितभवत्
शब्दान्तस्य सर्वनामसञ्ज्ञायाम् अकचि परमभवकानिति च सिद्धम् । तदन्तविध्य-
भावे ‘वर्णाश्रमेतरा’ इत्यस्य सर्वादिघटकत्वाभावेनैव सर्वनामसञ्ज्ञाया अप्राप्तौ
तन्निषेधक “द्वन्द्वे च” इति सूत्रं व्यर्थमेव स्यात्, तदेव व्यर्थं सत् तदन्तस्या-
पीयं सञ्ज्ञा इत्यर्थं ज्ञापयतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘सर्वे’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—सर्वशब्दस्य “सर्वादीनि सर्वनामानि” इति सर्वनामसञ्ज्ञायां
तस्माज्जसि तत्स्थाने “जसः शि” इत्यनेन विधीयमानः शि आदेशः शित्वाद्ने-
काल्त्वाद् वा सर्वस्य स्थाने स्यादिति शङ्कायाम् अनेकालत्वादेव सर्वादेशो न तु
शित्वादित्युच्यते । ननु यथा “अर्वणस्त्रसावनजः” इति सूत्रेण “नानुबन्धकृतमनेका-
ल्वचम्” इति परिभाषया नकारस्यैव आदेशो भवति, तथैवात्रापि शकारस्येत्स-
ञ्ज्ञायामुक्तपरिभाषया अनेकाल्त्वाभावेन शित्वात्सर्वादेशः स्यादिति चेद् ? न । सति
सर्वादेशे स्थानिवद्भावेन प्रत्ययत्वमादाय इत्सञ्ज्ञायाः प्रवृत्तेः । यावत्सम्पूर्णस्य
स्थाने आदेशो न भवति, तावत् प्रत्ययत्वाभावेन इत्सञ्ज्ञैव न स्यादित्यलम् ।

प्रश्नः—उभशब्दस्य सर्वादिगणे पाठः किमर्थः तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु सर्वादिगणे उभशब्दस्य पाठो व्यर्थः । सर्वनामकार्याणां स्मा-
यादीनां द्विवचने अभावात् । न च “सर्वनाम्नः तृतीया च” इति सूत्रेण उभाम्भ्यां

हेतुम्याम्, उभयोर्हेत्वोः इति षष्ठीतृतीया सिद्धिस्तत्फलमिति वाच्यम् । “निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्” इति वार्तिकेनैव गतार्थत्वात् । न च वृत्तिवृत्ता “सर्वनाम्नस्तृतीया च” इति सूत्रे पठितत्वादिदमपि वार्तिकं सर्वनाम्न एव सर्वविभक्तिज्ञापकं नान्यस्येति वाच्यम् । भाष्ये-“हेतौ” इति सूत्रे तद्वार्तिकस्य पठितत्वात् । अत एव अन्नेन कारणेन वसति, अन्नस्य कारणस्य इत्युदाहृतं हरदत्तेनेति चेद्, न । तस्येह सर्वादिगणे पाठस्तु ‘उभयौ’ इति अकजर्थत्वात् । ननु कप्रत्ययेनापि तत्सिद्धेः किमनेनाकजर्थपाठेन । न च काकचोः स्वरे विशेषोऽस्तीति वाच्यम् । प्रत्ययस्वरेण चित्स्वरेण वा अत्रोदात्तत्वे विशेषाभावात्, इति चेद्, न । द्विवचनपरत्वाभावेन उभयतः उभयत्र इत्यादाविव अयच्प्रसङ्गादित्यलम् ।

प्रश्नः—सर्वादिगणे ‘उतरडतम’ इतिप्रत्यययोः पाठः किमर्थः । तदन्तयोर्ग्रहणे सञ्ज्ञाविधौ तदन्तविधिः कथमित्युपपादय ।

उत्तरम्—सर्वादिगणे उतरडतमइतिप्रत्यययोर्ग्रहणेन केवलस्य च प्रत्ययस्य प्रयोगाभावे ‘प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्’ इति तदन्तविधौ उतरप्रत्ययान्तडतमप्रत्ययान्तयोः कतरकतमादिशब्दयोरेव सर्वनामसञ्ज्ञा, ननु केवलयोस्तयोः । न च ‘सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति’ “छसिडन्तम्” इत्यन्तग्रहणाज्ज्ञापकात्, तेन तदन्तयोर्ग्रहणं न स्यादिति वाच्यम् । केवलयोः सञ्ज्ञायाः प्रयोजनाभावात् ।

प्रश्नः—“पूर्वपराऽवरदक्षिणे।स्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्” इत्यत्र व्यवस्थायामित्यस्य कोऽर्थः तस्य प्रयोजनं च किमिति सुब्रूपपादय ।

उत्तरम्—स्वामिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था, तस्य हि अयमर्थः—स्वस्य पूर्वादिशब्दस्य अभिप्रेयेन—वाच्यार्थेन नियमेनावधिरपेक्षते तादृशो नियमो व्यवस्था तद्वाचिपूर्वादिशब्दानां सर्वनामसञ्ज्ञा भवतीति सूत्रार्थः । पूर्वादिशब्दे उच्चारिते कस्मात् पूर्वं कस्मात् परः इत्यादिनियमेनावधिसापेक्षोऽर्थ इति यावत् । “पूर्वपरावर” इति सूत्रे व्यवस्थापदाभावे कुशलवाचिदक्षिणशब्दस्यापि सर्वनामसञ्ज्ञा स्यात्, सा माभूदिति तत्र व्यवस्थाग्रहणम् । कृते तु तस्मिन् कुशलार्थस्य कस्मात् कुशलः इति कदाचित् अवध्यपेक्षत्वेऽपि कुशलमात्रप्रतिपादनेच्छोच्चरितदक्षिणशब्दार्थस्य अवध्यपेक्षत्वाभावेन नियमेनावधिसापेक्षार्थकत्वाभावात् सर्वनामसञ्ज्ञा न भवतीति ‘दक्षिणाः’ इति एकमेव रूपम् । यदि च इह असुक्-

स्मात् कुशलः इति अवश्यव्ययसम्भवेन अस्तीह व्यवस्था, तदा 'अधरे ताम्बूल-
रागः, उत्तरे प्रत्युत्तरे च शक्ता, इति प्रत्युदाहरणम् ।

प्रश्नः—“न बहुव्रीहौ” इत्यस्मिन् सूत्रे नश्यप्राचीनयोः मतभेदः
कः ? इदं सूत्रं भाष्यकारेण कथं प्रत्याख्यानम् ? तत् प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु “उपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः” इति वार्तिकेनैव बहुव्रीहः
सर्वनामसंज्ञानिषेधे सिद्धे “न बहुव्रीहौ” इति सूत्रं व्यर्थम्, इति चेद् ? न ।
‘न बहुव्रीहौ’ इति सूत्रस्य बहुव्रीहौ विकीर्षिते सर्वनामसंज्ञा न इत्यर्थस्वीका-
रेण तस्यावश्यकत्वात् । तथाहि—त्वकं पिता यस्य सः त्वत्कपितृकः । अहकं पिता
यस्य सः मत्कपितृकः । युष्मत् सु पितृ सु इति समासात् प्राक् अलौकिकविग्रहवाक्ये
‘न बहुव्रीहौ’ इत्यनेन सर्वनामसंज्ञा निषिध्यते । तेन युष्मत्स्मच्छब्दस्य समासघट-
कस्य सर्वनामसंज्ञाभावात् अकच् न, किन्तु कप्रत्यय एव । तेन त्वत्कपितृकः मत्क-
पितृकः इति च सिध्यतः । “न बहुव्रीहौ” इत्यस्य विकीर्षिते इत्यर्थास्वीकारे अलौ-
किकप्रक्रियावाक्ये सर्वनामसंज्ञायाः निषेधाभावेन अकचि सति त्वत्कपितृकः मत्क-
त्पितृकः इति लौकिके विग्रहवाक्ये इव रामासेऽपि भ्रूयेत । न च निमित्तस्य अनु-
पसर्जनत्वस्य विनाशोऽमुख्यत्वादकृतव्यूहपरिभाषया समासात्प्रागपि सर्वनामता न
भविष्यतीति वाच्यम् ? तस्याः अनित्यत्वात् । तत्र च एतत्सूत्रस्यैव ज्ञापकत्वात् ।
यथा अतिक्रान्तो भवकन्तं अतिभवकान् इत्यत्र अकृतव्यूहपरिभाषाया अनित्य-
त्वेन प्रक्रियावाक्ये अकचि सति समासेऽपि तस्य श्रवणमिति सूत्रकारः ।

भाष्यकारस्तु ‘संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः’ इति वार्तिकं स्वीकृत्य प्रक्रि-
यावाक्ये सर्वनामसंज्ञानिषेधाभावेन तत्राकचि समासेऽपि तत्श्रवणम् । ‘त्वत्कपि-
तृकः, ‘मत्कपितृकः, इति रूपे दृष्टे स्वीकुर्वन् एतत्सूत्रं प्रत्याचख्यौ । न च वार्ति-
कापेक्षया सूत्रस्य प्राबल्येन वार्तिकेन तत्त्वण्डनमनुचितमिति वाच्यम् ? “यथो-
त्तरं सुनीनां प्रामाण्यम्” इति परिभाषणात् ।

प्रश्नः—“संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः” इत्यनेन सर्वेषां
गतार्थत्वं कीदृशमिति तत् प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“सर्वादीनि सर्वनामानि” इति सूत्रे सर्वनाम इति महासंज्ञाकरणेन
तस्याश्चान्वयतया सर्वान्प्रयन्ति सर्वेषां नामानि इति वा विग्रहेण प्राधान्येन—
इतराविशेषणत्वेन, स्वीयसर्वार्थोपस्थापक इत्यर्थलाभात् तादृशसर्वादिगणपठितश-

ब्धानामेव सर्वनामसंज्ञा । सर्वनामसंज्ञोद्देश्यसर्वादीनां शब्दानां प्राधान्येन स्वीकृत्य सर्वाथोपस्थापकानामेव च गणे सन्निवेशेन त्यदादयः शब्दा अपि तादृशा एव पठ्यन्ते इति “त्यदादीनामः” इत्येवं “तदोःसः सावनन्त्ययोः” इति सत्वम्, “अदृष्टतरादिभ्यः पञ्चम्यः” इत्यदृष्टादेशश्च तादृशार्थोपस्थापकशब्दानामेवेति संज्ञायाः सुपसर्जनत्वे च सर्वादीनां सर्वनामसंज्ञा अत्वं सत्वम् अदृष्टादेशश्च न भवन्तीति क्रमेण सर्वो नाम कश्चत् तस्मै सर्वाय देहि अतिक्रान्तः सर्वम् अतिसर्वः तस्मै अतिसर्वाय देहि । अतिकतरं कुलम्, अतितत्, इत्युदाहरणानि ।

प्रश्नः—“द्वन्द्वे च” इत्यनेन सर्वनामसंज्ञानिषेधो द्वन्द्वघटकानां उत द्वन्द्वसमुदायस्य भवति तदुपपादय ।

उत्तरम्—वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे च वर्णाश्रमेतराः तेषां वर्णाश्रमेतराणामित्यत्र वर्णाश्रमेतर इति समुदायस्य तदन्तविधिना “सर्वादीनि सर्वनामानि” इति सूत्रेण प्राप्ता सर्वनामसंज्ञा “द्वन्द्वे च” इति सूत्रेण निषिध्यते ।

ननु वर्णाश्रमेतर इति समुदायस्य प्रकृतसूत्रनिषेधेन सर्वनामत्वाभावेऽपि इतरशब्दस्य सर्वनामत्वमस्तीति ततः परस्याम्बिभक्तेः “आमि सर्वनाम्नः सुट्” इति सूत्रेण तदन्तविधिना सर्वनामसंज्ञकेतरशब्दान्तादङ्गात्परत्वेन सुडागमापत्तिरिति चेद् ? न । तत्र सूत्रे सर्वनाम्नः इति पञ्चम्या विहितविशेषणत्वस्वीकारेण अवर्णान्तादङ्गात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुट् भवतीत्यर्थेनात्र इतरशब्दात् विहितत्वाभावेन तदप्रवृत्तिः ।

प्रश्नः—जरसादेशविषये वृत्तिकारस्य कोऽभिप्रायः भाष्यकाराणां तदभिमतं नवेति तदुपपादय ।

उत्तरम्—जरसादेशात् विभक्त्यादेशाः पूर्वविप्रतिषेधेन भवन्तीति स्वीकृत्य सन्निपातपरिभाषायाश्च “अतो भिस ऐस्” इति सूत्रे ऐस्करणसामर्थ्येन जरसादेशविषये अनित्यत्वमाश्रित्य निर्जरशब्दात् तृतीयैकवचने टाप्रत्यये पञ्चम्यैकवचने ङसिप्रत्यये वा “टाङ्सिङ्सामिनात्स्याः” इत्यनेन इनादेशे आत् आदेशे च कृते सन्निपातपरिभाषायाः अनित्यत्वात्स्या अप्रवृत्त्या जरसादेशे कृते निर्जसिनि निर्जसात् इति रूपेः न तु निर्जसा निर्जरसः, इति केषांचिन्मते वृत्तिकारेणोक्तम् । तथा भिसि परे जरसादेशात्पूर्वं भिसः स्थाने ऐसादेशे ततो जरसि निर्जरसैरिति क्पात्तरङ्गम् । तदनुसारिभ्यश्च षण्ढेकवचने ङसः स्यादेशे अजादित्वाभावेन जर-

सादेशाप्रवृत्त्या निर्जरस्येत्येवं रूपं स्वीकृतम् । एतच्च भाष्यविहङ्गम् । तथाहि—“टा-
डसिङ्साम्” इति सूत्रे इनातौ प्रत्याख्याय नादेशमदादेशश्च विधाय नादेशे परे
एत्वम् “आङि चापः” इत्यत्र “आङि च” इति योगं विभज्य साधितम् । त-
थाच ‘निर्जरसिन’ ‘निर्जरसात्’ इत्येतद् भाष्यविहङ्गमिति स्पष्टम् ।

प्रश्नः—“यूष्णः” इत्यत्र स्थानिवद्भावेनाकारव्यवधानात् “रषा-
भ्याम्” इति णत्वं कथं स्यादिति तदुपपादय ।

उत्तरम्—युषन् शब्दात् शसि ‘यूषन् + अस्’ इति स्थिते अत्र भवञ्ज्ञा-
याम् “अस्लोपोऽना” इति अलोपे कृते यूष्न् + अस्’ इति जाते तत्र “अचः पर-
स्मिन् पूर्वविधौ” इत्यनेन सूत्रेण पूर्वस्माद्विधिः पूर्वविधिरिति पञ्चमीसमासपक्षे
परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात् ; स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टादृष्टात्परस्य
विधौ कर्तव्ये स्थानिवदिति । पूर्वत्वेन दृष्टात्पकारात् परस्य नकारस्य णत्वे कर्तव्ये
स्थानिवद्भावेन अकारव्यवधानेन “रषाभ्यां नो णः समानपदे” इत्यस्य न प्रवृत्तिः,
अपि तु “अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि” इत्यस्य अङ्गव्यवायेऽपि प्रवृत्त्या णत्वम् ।
न च त्रैपादिककार्यं कर्तव्ये स्थानिवद्भावो न भवतीति “पूर्वत्रासिद्धीये न स्था-
निवत्” इति स्थानिवद्भावनिषेध इति वाच्यम् । “तस्य दोषः संयोगादिलोप-
त्वणत्वेऽबु” इत्यनेन णत्वे कर्तव्ये तत्प्रतिषेधात् । यदि पञ्चमीसमासो न विवक्ष्यते,
तदा स्थानिवद्भावाऽप्रवृत्त्या “रषाभ्याम्” इति णत्वम् ।

प्रश्नः—“पद्दन्तोमास” इति सूत्रे प्रभृतिग्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—“पद्दन्तोमासहन्निश” इत्यस्मिन् सूत्रे प्रभृतिपदस्य प्रकारोऽर्थः ।
प्रकारः—सादृश्यम्, तच्च सुप्त्वधर्मेण । तथाच—यत्र सुप्त्वं स्यात्तन्नादेशा भव-
न्ति । एवञ्च दोषशब्दस्य नपुंसकलिङ्गे औळः इयादेशो दोषन्नादेशो भवति । अत
एव ‘ककुद्दोषणी’ इति भाष्योदाहरणं सङ्गच्छते । एवञ्च प्रभृतिग्रहणस्य प्रकारार्थ-
त्वेन ‘पद्दन्तिश्ररणोऽस्त्रियाम्’ इत्यादौ सुविभक्तौ परे पादशब्दस्य पदादेशः सि-
द्ध्यति । अन्यथा शसादावेव स्यात् । तेन उक्तभाष्योदाहरणम्, ‘पद्दन्तिश्ररण’
इत्यमरकोषस्थ ‘पद्’ इति रूपञ्चासङ्गतं स्यात् ।

प्रश्नः—“आतो धातोः” इत्यत्र धातोरिति पदोपादानात् ‘क्त्वः’
‘इनः’ इत्यत्र आकारलोपः कथं तदुपपादय ।

उत्तरम्—“आतोः धातोः” इत्यत्र आतः इति धातोः इति च सूत्रं विभ-

ज्यते । तत्र 'आतः' इत्यस्य आकारान्तभसञ्ज्ञाकान्त्यस्य लोप इत्यर्थः । कत्वाङनाप्रत्ययानुकरणकत्वाङनाशब्दाभ्यां शसि भसञ्ज्ञायां पूर्वयोगेनाकारलोपः । ततो 'धातोः' इति । अस्य तु आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यादित्यर्थः । 'विश्वपः' 'शङ्खभ्रमः' इत्याद्युदाहरणम् । नचैवं 'हाहान्' इत्यत्रापि पूर्वसूत्रेणाकारलोपापत्तिरिति वाच्यम् । एवं सति सर्वत्रैव पूर्वसूत्रेणाकारलोपसिद्धे-
रुत्तरसूत्रस्य वैयर्थ्येन तत्सामर्थ्यात्पूर्वसूत्रस्य क्वाचित्कत्वबोधनेनानिष्टस्थलेऽप्रवृत्तेः ।

प्रश्नः--"शेषो व्यसखि" इत्यत्र पूर्वसूत्रगत 'यू' इति अनुवर्तते, तस्य किं फलम् ।

उत्तरम्—युग्रहणाभावे अदन्तशब्दे इनादेशादिना बाधात् विसञ्ज्ञाफलस्य नाभावादेन प्रवृत्तिः । ऋदन्तशब्दे च "ऋतो ङिसर्वनामस्थानयो." इति सूत्रे, लिग्रहणेन ङिःसु ऋदन्तस्य गुणश्चेत्तर्हि ङावेवेति नियमेन गुणादिर्न भविष्यतीति युग्रहणफलं परिच्छेत्वाचकमातृशब्दात् टाविभक्तौ परे नाभावाभाव इत्यलम् ।

प्रश्नः—"हल्ग्रहणाभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्" इति सूत्रे प्रथ-
महल्ग्रहणं किमर्थं तद् वद । 17527

उत्तरम्—ननु 'राजन् + स्' इत्यवस्थायां सकारस्य "संयोगान्तस्य लोपः" इति सूत्रेण लोपे सिद्धे नस्य "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति सूत्रेण च सिद्धे 'राजा' इत्यादिपदानां सिद्धौ किं हल्ग्रहणेनेति चेद् ? न । "नलोपः प्रातिपदिका-
न्तस्य" इति सूत्रेण नलोपे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वेन प्रातिपदिकान्तन-
कारस्थाभावात् नलोपानापत्तेरिति दिक् ।

प्रश्नः—सुसखिशब्दस्य घिसञ्ज्ञा भवति न वा तदुपपादय ।

उत्तरम्—"शेषो व्यसखि" इति सूत्रे 'असखि' इति पदस्य वर्णसञ्ज्ञापक्षे सखिभिन्नावयवौ याविदितौ तयोर्विसञ्ज्ञेत्यर्थः । तथाचात्र सुसखिशब्दस्य सखि-
भिन्नत्वेन तदवयवस्य इकारस्य घिसञ्ज्ञायां नादेशे च 'सुसखिना' इति सिद्धम् । सखिभिन्नं यद् इकारान्तमुकारान्तं तस्य विसञ्ज्ञेति तदन्तपक्षेऽपि सुसखिशब्दे समुदायस्य 'सुसखि' इत्यस्य सखिभिन्नत्वात् छलमैव घिसञ्ज्ञा । भाष्यकृन्मते तु प्रकृते विसञ्ज्ञा नैव लभ्यते । सखिशब्दस्य तदवयवे लक्षणया सख्यवयवभिन्नयो-
रिदुहोः तयोर्वा घित्वम् इत्यर्थे सुसखिवटक इकारस्य सख्यवयवत्वेन तदभिन्नत्वा-
भावात् सूत्रप्रवृत्तेरिति दिक् ।

प्रश्नः—“त्यदादीनामः” इति सूत्रे त्यदादिगणः द्विपर्यन्तानामेव गृह्यते, भाष्यवचनात् । तद्वर्धकारे को दोषः, तद् वद ।

उत्तरम्—“त्यदादीनामः” इत्यस्मिन् सूत्रे त्यच्छब्दादारभ्य सर्वेषां शब्दानां ग्रहणे भवच्छब्देऽपि “त्यदादीनामः” इति सूत्रेण तकारस्याकारे नलोपादिकायै च कृते ‘भवा’ इत्यनिष्टं रूपं स्यान्नतु भवानिति । भवच्छब्दस्य त्यदशब्दात्प्राक् पाठे कृते भवानिति रूपे सिद्धेऽपि “त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते” इति वार्तिके भवदादीनां मिथः इति पाठेनोक्तवार्तिकेन स च भवांचेति विग्रहे तदशब्दस्यैवैकशेषे भवन्ताविति रूपासिद्धिरिति द्विशब्दपर्यन्तमेव त्यदादेर्ग्रहणमिति दिक् ।

प्रश्नः—दुर्धिया वृश्चिकमियेत्यादौ गतिकारकपूर्वकत्वात् यणा भाव्यमिति दुर्धिया वृश्चिकमिया इत्यादौ इयङ् कथमिति तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु दुरित्यस्य ध्याधातुयोगे “गतिश्च” इति सूत्रेण गतित्वात् वृश्चिकभोरित्यत्र “वृश्चिकान्नोः वृश्चिकभोरिति समासघटकवृश्चिकशब्दस्यापादानत्वेन कारकत्वाच्च “गतिकारकेतर” इतिवार्तिकेन गतिपूर्वकत्वात् कारकपूर्वकत्वाच्च “एरनेकाचो” इत्यनेन यणस्यादिति चेद् ? न । ‘यत् क्रियायुक्ताः प्रादयः तम्प्रत्येव गत्युपसर्गसञ्ज्ञाः’ इति वचनात् । दुःस्थिता धौर्यस्य—दुःशब्दार्थस्य दुष्टत्वस्य, स्थाधात्वर्थेऽन्वयेन ध्याधात्वर्थे अन्वयाभावेन च गतित्वाभावात् । वृश्चिकमियेत्यत्रापि वृश्चिकस्य भीः वृश्चिकभोरिति सम्बन्धसामान्यवष्टया समासेन कारकत्वाभावात् “गतिकारक” इति गतिकारकेतरपूर्वपदत्वात् यणोऽभावः सिध्यतीति दिक् ।

प्रश्नः—नप्प्रादिग्रहणस्य व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थत्वं कथम्, उद्गातृशब्दस्य दीर्घत्वं च कथं तदुपपादय ।

उत्तरम्—“अप्तृन्तृच्स्वसृनेष्टृत्वष्टृक्षतैहोतृपोतृप्रशास्तृणाम्” इति सूत्रे “उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि” इति पक्षे नप्प्रादीनां शब्दानां तृन्तत्वात् तृजन्तत्वाच्च तृन्तृच्ग्रहणेनैव दीर्घसिद्ध्या नप्प्रादिग्रहणं सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिनियमाय भवतीति सिद्धान्तात् नियमार्थम् । नियमस्य सजातीयपक्षे क्षत्वात् उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां चेद् भवति, तर्हि नप्प्रादीनामेवेति नियमयति, तेन पितृभ्रातृप्रभृतीनां नेति फलितम् । नचैवम् उद्गातृशब्दस्याप्युणादिनिष्पन्नतया तस्यापि दीर्घो न स्यादिति वाच्यम् । “समर्थ” सूत्रे ‘उद्गातारः’ इति भा-

व्यप्रयोगदर्शनेन भाष्यप्रामाण्यात् तस्य नियमेन व्यावृत्त्यभावकल्पनात् ।

प्रश्नः—‘प्रकृतिवदनुकरणम्’ मस्याशयो गुक्तियुक्तं सोदाहरण-
ओपपादनीयः ।

उत्तरम्—“यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्” इति सूत्रे एतेभ्यः इत्यत्र त्यदाद्य-
त्वकरणादनुकरणस्य प्रकृतिवत्वमिति ज्ञापयति—‘प्रकृतिवदनुकरणम्’ इति । प्रकृत्या
ऽनुकार्येण तुल्यं वर्तते इति तदर्थः । तत्रैवैकशेषोऽदर्शनात्क्षयः इत्यादौ धात्वनुकरणे
विभक्तिकरणाच्च वैकल्पिकत्वमपि प्रकृतिवदनुकरणस्यायातम् । तेन कीः, किरौ, किरः,
कृः क्रौ क्रः, इति च सिद्ध्यन्ति । नच अनुकरणस्य अर्थवत्त्वाभावात्प्रातिपदिकत्वं न
स्यादिति वाच्यम् । अनुकरणस्य अनुकार्यशब्दरूपाथेनार्थवत्त्वात्प्रातिपदिकत्वस्य
सुलभत्वात् । नचैवं ‘भू सत्तायाम्’ इत्यादावपि विभक्त्यापत्तिरिति वाच्यम् ।
एतन्निर्देशादेव क्वचिदनुकरणाद्विभक्त्यनुत्पत्तेरपि स्वीकारात् ।

प्रश्नः—“ओतो णिदिति वाच्यम्” इत्यत्र विहितविशेषणस्य
फलं वद ।

उत्तरम्—“ओतो णिदिति वाच्यम्” इत्यस्य हि ओकारान्तात्परं सर्वना-
मस्थानं णिदिति व्याख्याने हि भानुशब्दात्सम्बुद्धौ “ह्रस्वस्य गुणः” इत्योकारे
गुणे सोरोकारात्परत्वेन णिद्वत्वे वृद्धावौकारे एङः परत्वाभावेन सुलोपाप्रवृत्तौ ह्रस्व-
विसर्गयोः ‘हे भानोः’ इति स्यात्—अतो विहितविशेषणमाश्रयणीयम् । कृते च
विहितविशेषणे सु त्यस्य ओकारान्ताद्विहितत्वाभावेन न णिद्वन्नावप्रसक्तिरिति ।
ननु ‘हे भानो’ इत्यत्र यदि वृद्धिः स्यात्तदा “एङ्ह्रस्वात्” इति सूत्रे एङ्ह्रणमेव
कुर्यादिति प्रत्याहारप्रहणसामर्थ्यात्सम्बुद्धिनिमित्तकौकारस्य वृद्धिर्न भविष्यतीति
कल्पनेन ‘हे भानो’ इत्यत्र न कोऽपि दोष इति मास्तु विहितविशेषणमिति चेद् ?
न । भानुशब्दाज्जसि “जसि च” इति गुणे ‘भानो + अस्’ इति स्थिते ओतः
परत्वाणिद्वत्वे वृद्धौ आवादेशे ‘भानावः’ इति रूपापत्तेः । अतो विहितवि-
शेषणमाश्रयणीयमेवेति दिक् ।

इत्यजन्ताः पुँलिङ्गाः ।

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

प्रश्नः—‘हे रने’ मस्य सिद्धिः प्रदर्शनीया ।

उत्तरम्—“रमा + स्” इति स्थिते प्रतिज्ञेकारत्वेन शीघ्रोपस्थितिकत्वात्

इच्छयादिषोपात्प्रागेव “सम्बुद्धौ च” इत्येत्वे “इच्छयाम्ब” इत्यत्र दीर्घाकार-
प्रक्षेपेण स्थानिवत्त्वाप्राप्त्या तेन षोपाप्राप्तौ “पृष्ठ्वात्सम्बुद्धेः” इत्यनेनैव षोपे
‘हे रमे’ इति सिध्यति । न च सन्निपातपरिभाषाबलात् सम्बुद्धिं निमित्तौक्य
जायमानस्यैवस्य सम्बुद्धिविघातकं प्रत्यनिमित्तकत्वेन षोपो न स्यादिति वाच्यम् ।
“कष्टाय क्रमणे” “न वासयोः” इत्यादिनिर्देशात् तस्याः अनित्यत्वेनात्र प्रवृत्त्या
सम्बुद्धिषोपे बाधकाभावादिति दिक् ।

प्रश्नः—सर्वासाम् इत्यत्र सर्वा आमिति स्थिते सर्वाशब्दस्य स-
र्वादिगणपठितत्वाभावेन सर्वनामत्वाभावात् सर्वनामप्रयुक्तमुडागमः
कथं तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु सर्वशब्दात् तापि षष्ठ्येकवचनविवक्षायाम् आमि, सर्वा + आ-
मिति जाते अत्रावन्तसर्वाशब्दस्य सर्वादिगणे पाठाभावात् असर्वनामत्वेन सर्वासा-
मित्यादौ सुट् न स्यादिति चेद् ? न । एकादेशपूर्वस्थानिवटितसमुदायवृत्तिसर्वना-
मत्वस्यैकादेशबिच्छिन्ने अतिदेशेनावन्त्यस्य सर्वेत्यस्य सर्वनामत्वात् मुडागमस्य छल-
भत्वादित्यलम् ।

प्रश्नः—“असंयुक्ता ये डलकास्तद्वृत्तां ह्रस्वो न” इति वार्तिकमपूर्वं
न वेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“डलकवृत्तां प्रतिषेधो वक्तव्यः” इदं वार्तिकम् “अम्बार्थं द्व्यक्ष-
रम् यदि” इत्यनेन भगवता भाष्यकारेण प्रत्याख्यातम् । तथाच प्रत्याख्यानपक्षे
‘हे अक्क’ इत्यादौ ह्रस्वो भवति, वार्तिकसत्तायां तु ह्रस्वो न भवतीति फलभेदा-
रणां वार्तिकसत्तेष्वपि “असंयुक्ता ये डलकास्तद्वृत्तां प्रतिषेधो वक्तव्यः” इत्यर्थोऽ-
वश्यं कार्यः । एवञ्च “असंयुक्ता ये डलकास्तद्वृत्तां ह्रस्वो न” इति नापूर्वं वार्तिकम् ,
किन्तु कलितमेवेति दिक् ।

प्रश्नः—यद्यपि जरसादेशस्य स्थानिवद्भावेन भावन्ततामाश्रित्य
“औळ आपः” इयं फक्किका युक्तियुक्तमुपपादनीया ।

उत्तरम्—जरशब्दात् औळि, आळि, ठे, ओसि, आमि, औ च परतः वि-
भक्त्यादेशेभ्यः परत्वात् जरसादेशेऽपि तस्य स्थानिवद्भावेन आप्तवत्याकृमात्र-
वृत्तिस्वाभावादनन्विधाविति निषेधाप्रवृत्तेरावन्ततया “औळ आपः” “आ-
ळि आपः” “आळापः” “ह्रस्वनयापः” “ठेराम्” इति पञ्चसूत्रैः ‘शी’त्याद्या-

देशापत्तिष्वपि प्राप्नोति, एवं नासिका-निशा-पृतना शब्दानां स्थाने "पहम्न" इति "मांसपृतनासान्नाम्" इत्यनेन च नस्, निश्, पृत्, आदेशेषु सत्सु तत्रापि स्थानिवज्जावेन 'शी'त्याद्यादेशापत्तिः, तथापि "औड आपः" इत्यादिपूर्वोक्तसूत्रेषु आप्पदे आकारात्पूर्वं सर्वर्णदीर्घाकारं प्रबिलस्य आकाररूपो य आप् तदन्तादङ्गादिति सर्वत्रार्थस्वीकारेणाप्त्ये "अनलिवधौ" इत्यस्याप्रवृत्तावपि आप्त्वस्य आमा-प्रवृत्तिधर्मत्वेन "अनलिवधौ" इति निषेधात्स्थानिवज्जावेन आह्वमानेतुमशक्यत्वेन तत्सूत्राप्रवृत्त्या न 'शी'त्याद्यादेशापत्तिः । न च "हलङ्याभ्यो दीर्घाः" इति सूत्रेऽपि आप्पदे ङीप्पदे च आकारस्य ईकारस्य च प्रश्लेषात् आकाररूपाबन्तात् ईकाररूपङ्यन्ताच्च परम् इत्यर्थेन 'अतिखट्वाः' 'निष्कौशाम्बिः' इत्यत्र "अनलिवधौ" इति निषेधात् आप्त्वस्य ईत्वस्य च स्थानिवज्जावेन आश्रयणासम्भवात् "हलङ्याप्" इति सूत्रस्याप्राप्तौ दोषवारणेन तदर्थं सूत्रे दीर्घग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम् । तस्मैवं प्रत्याख्यानसम्भवात्, इष्टत्वाच्च ।

ननु सर्वत्राप्यपदे आकारप्रश्लेषेण आप्त्वस्य "अनलिवधौ" इति स्थानिवज्जाव-निषेधेऽपि अतिखट्वाय इत्यत्र स्वाश्रयम् आकारत्वं स्थानिवज्जावेन आप्तवं चाश्रित्य "याडापः" इत्यनेन याडागमापतिरिति चेद् ? न । 'आपः' इति पञ्चम्या 'अङ्गाधिकारे पञ्चम्या यदुच्यते विहितविभक्त्येव तद् भवतीति सिद्धान्तात् विहित-विशेषणत्वमाश्रित्य आपः प्रत्ययग्रहणतया "प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः" इति परिभाषैकवाक्यतया आप् यस्माद्विहितस्तदादि तदन्तं यदङ्गं तस्माद्विहितस्य ङि-प्रत्ययस्य याट् स्यादिति "याडापः" इति सूत्रार्थस्वीकारेण अतिखट्वा इत्यस्मात् ङे प्रत्ययस्य विहितत्वेऽपि तस्याबन्ततदादित्वाभावेन खट्वा इत्यस्याबन्ततदादित्वेऽपि ततो ङेप्रत्ययस्य विहितत्वाभावेन "याडापः" इत्यस्याप्रवृत्त्या आप-त्यभावात् । न च परमखट्वायै इत्यत्रापि अतिखट्वा इतिवत् याटा न भाव्यमिति वाच्यम् । "स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन" इत्यनुपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादिनिय-माभावादित्यलम् ।

प्रदनः—प्रियास्तिको यस्य तत्कुलमिति विग्रहे त्रिशब्दस्य स्त्रि-यां विद्यमानत्वेन तत्र तिस्रादेशो भवति न वा तदुपपादय ।

उत्तरम्—प्रियास्तिको यस्य तत्कुलमिति विग्रहे त्रिशब्दस्य स्त्रियां विद्य-मानत्वेऽपि "त्रिचतुरोःस्त्रियां तिसृस्तसु" इत्यनेन तिस्रादेशो न भवति । तत्र

प्रियत्रिशब्दात्परस्य सोः “स्मोर्नृपुंसकात्” इति लुकि तस्य “न लुमन्ताङ्गस्य” इति निषेधात्प्रत्ययलक्षणाभावेन विभक्तिपरत्वाऽभावात् । यदि “इकोऽचि विभक्तौ” इत्यत्राचिग्रहणेन “न लुमन्ताङ्गस्य” इत्यस्य अनित्यत्वमाश्रीयते, तदा “प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्” इति प्रत्ययलक्षणसत्त्वेन विभक्तिपरत्वात्तिन्नादेशे “प्रिय-तिष्ठ” इत्यपि रूपम्भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘अस्त्रीति तु इयङुवङ्स्थानावित्यस्यैव पर्युदासः, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेर्दीर्घस्यायं निषेधो; न तु ह्रस्वस्य’ अस्याः फ.कि.काया आशय उपपादनीयः ।

उत्तरम्—“इति ह्रस्वश्च” इत्यत्र इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्य-स्त्रीलिङ्गाधीदूतौ नदीसञ्ज्ञौ वा स्तः इति प्रथमं वाक्यम् । ह्रस्वाविवर्णौवर्णौ स्त्रियां नदीसञ्ज्ञौ वा स्तः, इति द्वितीयं वाक्यम् । तत्र द्वितीयवाक्यात् अतिस्त्रिशब्दस्य ङित्सु नदीत्वविकल्प इत्यर्थः । ननु “नेयङुवङ्स्थानावस्त्री” इत्यतः अस्त्रीत्यस्यानुवृत्तेः कथमिह नदीत्वविकल्प इति चेद् ? न । ‘अस्त्री’ इति तु इयङुवङ्स्थानावित्यादिप्रथमवाक्यविहितनदीत्वस्यैव पर्युदासो, न तु ह्रस्वावित्याद्विद्वितीयवाक्यविहितनदीत्वस्यापि, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेः । तथाहि—“नेयङुवङ्स्थानौ” इत्यतोऽस्त्रीत्यस्यानुवृत्तिर्वक्तव्या । ततश्च ‘इयङुवङ्स्थानौ’ इति यन्नाशेति, तत्रैव तत्सम्बद्धस्य अस्त्रीत्यस्यानुवृत्तिरुचिता । एवञ्च-ह्रस्वादिवाक्ये इयङुवङ्स्थानावित्यस्य अनुवृत्त्यभावात् अस्त्रीत्यस्यापि तत्र नानुवृत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—वृत्तिकारादीनां मते नित्यस्त्रीत्वमुपपाद्य प्रधीशब्दस्य रूपम् कीदृक् भवति, कैयटमते नित्यस्त्रीत्वं कथं, तन्मते प्रधीशब्दस्य रूपम् कीदृग् इति उपपादनीयम् ।

उत्तरम्—वृत्तिकारादीनां मते—पदान्तरं विनाऽपि—पदान्तरसमभिव्याहाराभावेऽपि, स्त्रियां वर्तमानत्वम्—यः शब्दः स्त्रीरूपार्थबोधकः, नित्यस्त्रीत्वम्—सः नित्यस्त्रीलिङ्गः इत्यर्थः । अत एव ब्राह्मण्याम् आधीशब्दस्य ‘आध्यै’ इति-रूपमाश्रितम्भाष्ये । स्त्रियामेव यो वर्तते स एव नित्यस्त्रीलिङ्ग इत्यभ्युपगमे तु तदसङ्गतिः स्पष्टैव । आधीशब्दस्य क्रियाशब्दतया त्रिलिङ्गत्वात् । अतः पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वम् । इदं तु प्रधीशब्दस्य सम्भवत्येव, प्रकटनं ध्यातृत्वं निमित्तीकृत्य स्त्रियां वृत्तिसम्भवात् । एवञ्च प्रधीशब्दस्य वृत्ति-

कारादीनां मते लक्ष्मीवद्रूपम् । लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति कैयट-
मतम् । ‘स्त्रीविषयावेव यौ यू तयोरेव नदोसंज्ञा’ इति “यू स्त्रयाकषौ नदो”
इत्यत्र भाष्यादिति तदाशयः । तन्मते उदाहृतप्रधोषाब्दस्य—प्रधोषायतोति प्रधो-
षाब्दस्य, त्रिङ्गिङ्गत्वात् नित्यस्त्रोत्वाभावात् पुंस्त्रीव स्त्रियामपि अनदोत्वात् पुंवद्रू-
पम् । प्रकृष्टा भीरिति विग्रहे प्रादिसमासे प्रधोषाब्दस्य मतद्वयरोत्यापि नित्यस्त्री-
किङ्गत्वात् लक्ष्मीवद्रूपमिति यावत् ।

प्रश्नः—“एकाजुत्तरपदे णः” इत्यत्र णकारग्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—नन्विह णकारग्रहणं व्यर्थम् । “रषाम्बां नो णः” इत्यत एव
तदनुवृत्तिसिद्धेः । न च “प्रातिपदिकान्तबुम्बिमक्तिषु च” इति विकल्पनिवृत्त्यर्थं
पुनर्णग्रहणमिति वाक्यम् । आरम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वसिद्धेरिति चेद् १ न । पुन-
र्णग्रहणस्य स्पष्टार्थत्वात् ।

इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गाः ।

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

प्रश्नः—‘ममि लुकोऽपवादमम्भायं बाधित्वा परत्वाज्जरस् ,
ततः सन्निपातपरिभाषया न लुक्’ मस्याः फक्किकाया भाषया वि-
शदनीयः ।

उत्तरम्—‘अज + अक्’ इति स्थिते “स्वमोर्नपुंसकात्” इति लुक् प्राप्तस्त्वं
बाधित्वा तदपवादः “अतोऽम्” इत्यम्भावः प्राप्तः, तं बाधित्वा “विप्रतिषेधे परं
कार्यम्” इति परत्वाज्जरस् । न च लुगपवादस्याम्भावस्य जरसादेशेन बाधितत्वात्
अपवादे निषिद्धे पुनस्तत्सर्गस्य स्थितिः” इति न्यायात् अमो लुक् स्यादिति वा-
क्यम् । जरसादेशानन्तरम् अम्सन्निपातमाश्रित्य प्रवृत्तस्य जरसो अमो लुकि नि-
मित्तत्वाभावादित्यलम् ।

प्रश्नः—“ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य” इत्यस्य क्रीडवदर्थे वर्त-
मानस्याजन्तस्येत्येव सामर्थ्यात्प्रातिपदिकलाभे सिद्धे सुत्रे पुनः प्रा-
तिपदिकग्रहणं किमर्थमिति तदुपपादय ।

उत्तरम्—“ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य” इत्यस्य वक्रोपवदर्थे वर्तमानस्या-
जन्तस्येत्येव सामर्थ्यात्प्रातिपदिकलाभे सिद्धे प्रातिपदिकग्रहणं सार्वप्रवचनार्थम् ।

सत्त्वप्रधानत्वञ्च—स्वविशिष्टत्वम् । वैशिष्ट्यञ्च—स्वघटितत्व, स्ववर्थासप्रयोजकता-
निरूपितप्रयोज्यतावत्प्रधानतानिरूपिता या अप्रधानता तदसमानाधिकरणा किङ्ग-
संख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपिता या विशेष्यता तत्प्रयोजकघटितत्वप्राप्तदुभयसम्बन्धेन ।
'श्रीपा' इत्यस्य तत्त्वमस्ति, अत्र स्वं पा इति तत्पर्यासप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्य-
तावती श्रीपात्क्षणकर्तृनिष्ठा प्रधानता तन्निरूपिताऽप्रधानता क्रियाकर्मभावनिष्ठा
किङ्गसंख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपिता विशेष्यता तत्प्रयोजकत्वं 'श्रीपा' इत्यस्य तद्-
घटितत्वं 'श्रीपा' इत्यस्येति लक्षणसमन्वयः ।

प्रश्नः—'श्रीपाय' इत्यत्र "आतो धातोः" इत्याकारलोपस्य सञ्जि-
पातपरिभाषया कथं वारणं कृतम्, तदुपपादय ।

उत्तरम्—श्रीपाशब्दस्य "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" इति ह्रस्वत्वे
हेर्वादेशे "सुपि च" इति दीर्घे 'श्रीपाय' इति सिद्धम् । सञ्जिपातपरिभाषा तु
"कष्टाय क्रमणे" इति निर्देशात् न प्रवर्तते । नन्वत्र ह्रस्वत्वे कृतेऽपि प इत्यस्य
एकदेशविकृतन्यायेन धातुत्वानपायात् दीर्घे कृते आकारान्तत्वाच्च "आतो धातोः"
इत्याल्लोपः स्यात्, यादेशस्य स्वतो यकारादितया स्थानिवत्त्वेन स्वादिप्रत्यय-
तया च तस्मिन् परे भवत्स्यापि सत्वादियि चेद् ? न । सञ्जिपातपरिभाषाविश-
यात् । तथाहि—ह्रस्वत्वमवर्णत्वं च समुदितं यादेशस्य उपजीव्यम् । तत्र कष्टायेति
निर्देशात् सञ्जिपातपरिभाषां बाधित्वा कृतेऽपि दीर्घे ह्रस्वत्वांश एव निवृत्तः । अ-
वर्णत्वांशस्तदुक्त एव । तस्याप्याल्लोपेन निवृत्तौ उपजीव्यविघातः स्यादेवेति
भवेदेव सञ्जिपातपरिभाषाविरोधः इति दिक् ।

वस्तुतस्तु "आतो धातोः" इत्यत्र "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव
ग्रहणम्" इति परिभाषया प्रतिपदोक्त-आकारस्य ग्रहणात् प्रकृते आकारस्य काक्ष-
निकत्वेन न लोपप्रसक्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—"न लुमताङ्गस्य" इति निषेधस्यानित्यत्वेन 'हे वारे, हे
वारि' इति भवति, तत्र "न लुमताङ्गस्य" इत्यस्यानित्यत्वं कथम् ?
तदुपपादय ।

उत्तरम्—हे वारि सु इत्यत्र सोर्लुकि "न लुमताङ्गस्य" इति प्रत्ययलक्षण-
निषेधेन न सम्बुद्धिनिमित्तको गुणः । तेन 'हे वारि' इति सिद्ध्यति । "न लुम-
ताङ्गस्य" इत्यस्यानित्यत्वात्पक्षे "प्रत्ययल्लोपे प्रत्ययलक्षणम्" इति प्रत्ययलक्षणेन
"ह्रस्वस्य गुणः" इति सम्बुद्धिनिमित्तकगुणे 'हे वारे' इति भवति । "न लुमता-

ङ्गस्य” इत्यस्यानित्यत्वे हि “इकोऽचि विभक्तौ” इत्यत्राज्यप्रहणं ज्ञापकम् ।

तथाहि—“इकोऽचि विभक्तौ” इत्यत्र अधिप्रहणाभावे हलादिषु भ्यामादिषु परेषु, सत्यपि नुमि “नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य” इति नस्य लोपसम्भवादचीति व्यर्थम् । न च सम्बुद्धिवाच्यत्यर्थम् अज्यप्रहणम् । तत्र नुमि सति “न लिसम्बुद्धोः” इति निषेधे सति नकारश्रवणप्रसङ्गादिति वाच्यम् ? सम्बुद्धेर्लुका लुप्ततया प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र नुमः प्राप्तेरवाभावात् । “न लुमताङ्गस्य” इति निषेधस्यानित्यत्वे तु सम्बुद्धौ प्रत्ययलक्षणेन प्राप्तं नुनं वारयितुमज्यप्रहणं चरितार्थम् । एवञ्च अज्यप्रहणं “न लुमताङ्गस्य” इत्यस्यानित्यत्वे लिङ्गमिति दिक् ।

प्रश्नः—“तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवङ्गात्त्वस्य” इत्यत्रस्थभाषितपुंस्कस्यार्थः स्पष्टमुपपादनीयः ।

उत्तरम्—ननु भाषितपुंस्कमित्यस्य भाषितः पुमान्धेन शब्देनेत्यर्थकरणेऽनादिशब्दे तत्सत्वेऽपि पोलुशब्देनाऽपि पुंसो भाषितत्वात्तत्र पुंवङ्गावातिप्रसङ्गो दुर्वारस्तस्माद्भाषितः पुमान्यस्मिन्प्रवृत्तिनिमित्तरूपेऽर्थे इति बहुबोहिः । यस्य शब्दस्य पुंनपुंसकयोरेकप्रवृत्तिनिमित्तं तस्य पुंवत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः । एवञ्च अनादिशब्दस्य पुंसि क्लोषे चाऽशोषिताऽऽदित्वं प्रवृत्तिनिमित्तमेकमेवेति भवत्येव पुंवत्वम् । पोलुशब्दस्य तु वृक्षे वृक्षत्वव्याप्यजातिः प्रवृत्तिनिमित्तम्, फले फलत्वव्याप्यजातिः प्रवृत्तिनिमित्तमित्युभयत्रैकजातेस्तत्त्वाभावेन न पुंवत्वमिति ।

प्रश्नः—प्रारब्धशब्दस्य आमि रूपं प्रदर्श्य तत्रत्यमतभेदो वर्णनीयः ।

उत्तरम्—प्रकृष्टः राः-धनं, यस्य इति बहुब्रीहौ प्रारब्धशब्दः । तस्य नपुंसकह्रस्वत्वेन इकारः ‘प्ररि’ इति, तस्माद् आमि ‘प्ररि + आम्’ इति स्थिते अत्र ‘ह्रस्वनद्यापः’ इति नुटि प्राप्ते “इकोऽचि” इति नुमि च प्राप्ते “नुमचिरतृज्वङ्गावगुणेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन” इति पूर्वविप्रतिषेधानुमं बाधित्वा नुटि कृते “रा-यो हलि” इत्यात्वे ‘प्रराणाम्’ इति माधवः ।

वस्तुतस्तु—ह्रस्वान्तत्वमुपजाव्य प्रवृत्तस्य नुटस्तद्विघातकमात्वं प्रति निमित्तत्वासम्भवात् नुटि आत्वं न भवतीति ‘प्ररीणाम्’ इत्येव साधु । ननु एवं तर्हि ह्रस्वान्तत्वमुपजाव्य प्रवृत्तस्य नुटः तद्विघातकं “नामि” इति दीर्घं प्रति कथं निमित्तत्वमिति चेद् ? न । “नामि” इति दीर्घस्त्वारम्भसामर्थ्यात्संज्ञिपातपरिभाषा बाधते इत्युक्तत्वादिति दिक् ।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

अथ हलन्तपुल्लिङ्गाः ।

प्रश्नः—“दादेर्धातोर्धः” इति सूत्रे उपदेशपदस्य कथं लाभः, तदभावे च को दोषः तदुपपादय ।

उत्तरम्—“दादेर्धातोर्धः” अत्र धातोरित्यावर्तते, एकं धातुग्रहणमवयवषष्ठ्यन्तं हकारेऽन्वेति—धातोरवयवस्य हस्येति । द्वितीयं धातुग्रहणं तु धातोरुपदेशकालं लक्षयति । तेन “दादेर्धातोर्धः” इत्यस्य उपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्याज्जलि पदान्ते चेत्यर्थः सम्पन्नः । अत्र उपदेश इति किम् ? अधोक् इत्यत्र यथा स्यात् । दामलिहमात्मनः इच्छति दामलिह्यति; ततः किपि दामलिद् अत्र माभूत् । तथाहि—उपदेशपदभावे आगमसमभिव्याहारे आगमविशिष्टस्य धातुत्वात्तस्य च दादित्वाभावादधोगित्यत्र घत्वं न स्यादित्यव्याप्तिः । दामलिडित्यत्र दादित्वाद् घत्वं स्यादित्यतिव्याप्तिर्दोषस्तद्वारणायोपदेशपदमावश्यकम् । कृते चोपदेशे अधोगित्यत्रोपदेशिकदादित्वस्य सत्त्वेन घत्वं सिद्धम् । दामलिडित्यत्रोपदेशिकदादित्वाभावात् घत्वं, किन्तु “हो ढः” इति ढत्वमेव भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—“एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः” इति सूत्रस्थकाचो धातोः सामानाधिकरण्येनान्वयः, उत वैयधिकरण्येन तदुपपादय ।

उत्तरम्—“एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः” इति सूत्रे “सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यस्यान्यायत्वम्” इति न्यायेन एकाच इति धातोरेव विशेषणं भवितुमर्हति । तेन गर्दभम् आचष्टे गर्दभयति, ततः किप् णिलोपः गर्दभ इत्यादौ धातोरेकाच्त्वाभावेन भष्भावो न स्यादिति लक्ष्यानुरोधेन क्वचित् वैयधिकरण्येनापि अन्वयो भवति । ततश्च धातोरवयवो य एकाच् झषन्तः तदवयवस्य बशः स्थाने भष् स्यादिति सूत्रार्थेन ‘गर्धद्’ इत्यत्र भष्भावसिद्धिः । नचैवं ‘धुघ्’ इत्यादौ धातुर्वैकाच् न तु धातोरवयव एकाजिति तत्र भष्भावो न स्यादिति वाच्यम् । “व्यपदेशिवदेकस्मिन्” इति परिभाषया व्यपदेशिवद्भावेन धातावेव धात्ववयवत्वमारोप्य भष्भावसिद्धेः ।

प्रश्नः—“अनड्वान्” इत्यत्र आमागमो नुमागमश्च प्रातः, तत्र नुमा आम् कथं न बाध्यते तत् सर्वमुपपादय ।

उत्तरम्—“सावनहुहः” इति सूत्रे “आच्छीनघोर्नुम्” इत्यतः आदिति पदमनुवर्तते । ततश्चानहुहूशब्दावयवावर्णात्परो नुम् स्यात् सौ परे इति सूत्रार्थः ।

तेन "चतुरनहुहोरासुदात्तः" इति सूत्रविहितस्य आमः सर्वनामस्थानविषयो भवति, "सावनहुहः" इति विहितस्य नुमस्तु सुविषय एवेति विशेषविहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते । आदित्यधिकारात् । यदि नुमा आम् बाध्येत तदा 'आत्' इत्यधिकारो व्यर्थ एव स्यादिति उपजीव्यविरोधः स्पष्ट एव । एवं रीत्या सम्बुद्धावपि अमा च नुम् न बाध्यते । ननु अनङ्वानित्यत्र "वसुक्षंसु" इति, दत्वं स्यादिति चेद् ? न । "सावनहुहः" इति नुम्विधिसामर्थ्यात् । न च "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति नलोपः स्यादिति बाध्यम् । "संयोगान्तस्य लोपः" इति सूत्रस्य त्रैपादिकत्वेन हलोपस्यासिद्धत्वादिति उक्तरूपस्य सिद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—'चतुर्णाम्' इत्यत्र णत्वस्यासिद्धत्वात् पूर्वं द्वित्वेन भाव्यम्, इति मूले णत्वं द्वित्वं चतुर्णाम् इति कथमुक्तं तदुपपादय ।

उत्तरम्—'चतुर् + आम्' इत्यत्र "षट्चतुर्भ्यश्च" इत्यनेन आमो बुद्धि चतुर् नामिति जाते "रषाभ्यां नो णः समानपदे" इति णत्वे "अचो रषाभ्यां द्वे" इति णकारस्य द्वित्वे 'चतुर्णाम्' इति रूपम् । ननु "पूर्वत्रासिद्धीयमद्विवंचने" इति परिभाषया द्वित्वे कर्तव्ये "पूर्वत्रासिद्धम्" इति सूत्राप्रवृत्त्या परत्वात् द्वित्वेन; ततो णत्वेन भाव्यमिति चेद् ? न । "पूर्वत्रासिद्धीयमद्विवंचने" इति परिभाषया द्वित्वे कर्तव्ये अन्यदसिद्धं न । न तु द्वित्वस्याऽपि असिद्धत्वं नेति तदर्थम् । एवं च णत्वोत्तरमेव द्वित्वमिति दिक् ।

प्रश्नः—किमृशब्दस्य द्वेः प्राक्पाठकरणेन "किमः कः" इत्यत्र 'इमः' इति न्यासेनापि सिद्धौ "किमः कः" इति गुरुभूतन्यासस्य किम् फलं तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु 'इमः' इति न्यासेऽपि किमृशब्दस्य द्वेः प्राक् पाठकरणेन "त्यदादीनामः" इति सम्पूर्णसूत्रानुवृत्त्या त्यदादीनाम् इमः अः स्यादित्यर्थेन 'कः' इत्यादिप्रयोगसिद्धौ ककारोपादानं व्यर्थमिति चेद् ? न । त्यदादेः इमः अकारविधौ "अव्ययसर्वनाम्नाम्" इति किशब्दस्याकचि कृते 'ककिम्' इति स्थिते "इमः" इति न्यासेन अकारे कृते 'ककः' इत्यभिष्टरूपापत्तेः । "किमः कः" इत्युक्तौ तु साकञ्कस्याऽपि किमृशब्दस्य "तन्मध्यपतितस्तद्वग्रहणेन युज्यते" इति न्यायेन किमृशब्दत्वात् तस्य कादेशे सति 'कः' इति इष्टरूपस्य सिद्धिः ।

प्रश्नः—'राज्ञः' इत्यत्र अल्लोपस्य स्थानिवत्वात् क्वत्वं कथं

स्थात् , तत् सविस्तरमुपपादय ।

उत्तरम्—‘राजन् + अस्’ इति स्थिते भसञ्ज्ञायाम् “अल्लोपोऽनः” इति सूत्रेण अकारलोपे “स्तोः ष्चुना ष्चुः” इति ष्चुत्वेन अकारे ‘राजः’ इति सिध्यति । ननु अत्र “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इति शस्प्रत्ययनिमित्तोक्तस्य भसञ्ज्ञाद्वारा जायमानस्य अल्लोपरूप-अजादेशस्य स्थानिभूतादकारात्पूर्वत्वेन दृष्टत्वात् जकारात्परस्य नकारस्य ष्चुत्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावेन अकारस्यानयनेन जकारनकारयोर्मध्ये व्यवधानात् ष्चुत्वं न स्यादिति चेद् ? न । “पूर्वत्रासिद्धये न स्थानिवत्” इति त्रैपादिकत्वेनासिद्धये ष्चुत्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावनिषेधात् ।

न च अल्लोपस्य बहिर्भूतशस्प्रत्ययनिमित्तकतया बहिरङ्गत्वेन “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति परिभाषया असिद्धत्वेन ष्चुत्वं न स्यादिति वाच्यम् । तस्याः परिभाषायाः “वाह ऊट्” इति सूत्रस्थोऽप्रहणज्ञापिततया सापादिकत्वेन यथोद्देशपक्षे तद्दृष्ट्या त्रैपादिकष्चुत्वस्यासिद्धतया तत्र तस्याः परिभाषायाः अप्रवृत्त्या अल्लोपस्य असिद्धत्वाभावात् । परिभाषाज्ञापकं तु “वाह ऊट्” इति सूत्रस्थोऽप्रहणमेव । तथाहि—“वाह ऊट्” इत्यत्र “वाहः” इत्येव सूत्रं कर्तव्यम् । भसञ्ज्ञकस्य वाहः सम्प्रसारणं भवतीति तदर्थः । ‘विश्व + वाह् + अस्’ इत्यत्र वाहः सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते विश्व ऊह् अस् इति जाते अत्र प्रत्ययलक्षणेन णिवरूपार्धानुक्रममाश्रित्य “पुगन्तलघूपचस्य च” इति गुणे ‘विश्व ओह् + अस्’ इति स्थिते “बुद्धिरेचि” इति बुद्धौ ‘विश्वौहः’ इति सिध्यतीति ‘वाह ऊट्’ इति सूत्रस्थोऽप्रहणं व्यर्थं सत् ज्ञापयति “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति । तेन अन्तरङ्गे बुद्धौ कर्तव्यायां जातस्य लघूपचगुणस्य बहिरङ्गत्वेन असिद्धत्वात् प्रकृते बुद्धिर्न स्यादिति ऊट्प्रहणं स्वाच्चे चरितार्थमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘प्रतिदीप्नः’ इत्यत्र अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेन “हलि च” इति उपधादीर्घो न स्यादिति तत्र स्थानिवद्भावस्य धारणं कया रीत्या कर्तं तत्सम्यगुपपादय ।

उत्तरम्—‘प्रतिदिवन् + अस्’ इति स्थिते भसञ्ज्ञायाम् “अल्लोपोऽनः” इति सूत्रेण अकारलोपे कृते “हलि च” इति उपधादीर्घे कृते ‘प्रतिदीप्नः’ इति सिध्यति । नन्वत्र अल्लोपस्य “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इत्यनेन स्थानिभूतादकारो—लुप्ताकारात् पूर्वत्वेन दृष्टस्य हकारस्य दीर्घं कर्तव्ये स्थानिवद्भावेन अकार-

व्यवधानात् हलपरत्वाभावेन “हलि च” इति दीर्घो न स्यादिति चेद् ? न । “न पदान्तद्विवचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्रविधिषु” इति सूत्रेण दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवद्भावस्य निषेधेन हलपरत्वात् “हलि च” इति दीर्घस्य सुवचत्वात् ।

न च “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति परिभाषया—बाह्यशस्प्रत्ययनिमित्त-
काल्लोपस्य बहिरङ्गतया अन्तर्भूतनकारनिमित्तकत्वेन अन्तरङ्गाद् “हलि च” इति
दीर्घविधायकशास्त्रदृष्ट्या असिद्धत्वात् दीर्घप्रवृत्तिर्न स्यादिति वाच्यम् । यथोद्दे-
शपक्षे—“असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति परिभाषायाः “वाह ऊट्” इति सूत्र-
स्थोऽर्हणज्ञापिततया सापादिकत्वेन तद्दृष्ट्या “हलि च” इति शास्त्रस्य त्रैपादि-
कत्वेनासिद्धत्वात् तद्विषये “असिद्धं बहिरङ्गम्” इति परिभाषाया अप्रवृत्तेः ।
न च कार्यकालक्षे दोष इति वाच्यम् । एकपक्षेणेष्टसिद्धौ पक्षान्तरेण दोषदान-
स्यानुचितत्वात् ।

प्रश्नः—‘वृत्रघ्नः’ इत्यत्र “एकाजुत्तरपदे णः” इत्यनेन नकारस्य
णत्वं कुतो नेति तदुपपादय ।

उत्तरम्—‘वृत्रघ्न’शब्दात् शसि भसञ्ज्ञायाम् “अल्लोपोऽनः” इत्यकारलोपे
“हो हन्ते” इति हकारस्य कुत्वेन घत्वे शसः सस्य रुन्धे विसर्गं च ‘वृत्रघ्नः’ इति
सिद्ध्यति । नचात्र “हन्तेः” इत्यनेन सूत्रेण नकारस्य णत्वं कुतो नेति वाच्यम् ।
“अतपूर्वस्य” इत्यनेन ह्वाकारपूर्वकस्यैव हन्तेर्नकारस्य णत्वमिति नियमानात् ।
अत्र तदभावेन णत्वाप्रवृत्तेः । न च “अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा”
इति न्यायेन “अतपूर्वस्य” इति “हन्तेरि”त्यस्यैव नियामकं भवति, न भवति
“एकाजुत्तरपदे णः” इत्यस्येति प्रकृते “एकाजुत्तरपदे णः” इति णत्वं स्यादिति
वाच्यम् । एवं सति “हन्तेरतपूर्वस्य” इति एकयोगे एव कर्तव्ये तदकरणेन योम-
विभागसामर्थ्यात् अत्र “अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा” इति न्याया-
प्रवृत्तेर्बोधनेन सन्निहित “एकाजुत्तरपदे णः” इत्यादेरपि तेन नियमात् । न च अ-
ल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन अकारव्यवधानेन अव्यवहितनकारपरत्वाभावेन कुत्वं न
स्यादिति वाच्यम् । नकारे परे कुत्वविधिसामर्थ्यात् कुत्वे कर्तव्ये “अल्लोपस्य
स्थानिवद्भावो न भवतीति कल्पनेन अदोषात् ।

प्रश्नः—‘मघवान्’ इत्यत्र संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वेन नान्तत्वा-
भावात् दीर्घत्वं कथं “मघवाबहुलम्” इति सूत्रेण कथमाकरे प्रत्या-

ख्यातम्, तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु 'मघवन्' शब्दात् सुप्रत्यये 'मघवा बहुलम्' इति नकारस्य स्थाने तु आदेशे ऋकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'अगिदचाम्' इति नुमि हलुयादिलोपे संयोगान्तलोपे च कृते मघवनिति जाते संयोगान्तलोपस्य असिद्धत्वेन नान्तत्वाभावात् पचनित्यादाविव 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति सूत्रेण दीर्घो न स्यादिति चेद् ? न । 'मघवाबहुलम्' इत्येतत्सूत्रस्थबहुलप्रहणेन 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति सूत्रेण दीर्घं कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्य असिद्धत्वं न भवतीति कल्पनेन अदोषात् । भाष्यकृता हि 'अन्नुशन्नूपपन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्०' इत्युणादिसूत्राणि पूजार्थकमहधातोः मनि प्रत्यये हस्य घकारादेशबुगागमयोनिपातनेन मघश्चञ्छब्दं तस्य रूपाणि च संसाध्य मघशब्दान्मतुप् प्रत्यये 'मादुवधायाश्च' इति मघश्चञ्छब्दं तस्य रूपाणि च संसाध्य 'मघवा बहुलम्' इति सूत्रं प्रत्याख्यातम् । आरम्भपक्षे संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वे मघवनिति ; प्रत्याख्यानपक्षे च 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इति उपधादीर्घं मघवानिति, आरम्भप्रत्याख्यानयोः फलभेदप्रसङ्गेन सूत्रारम्भपक्षेऽपि बहुलप्रहणेन संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवतीति कल्प्यते ।

प्रश्नः—'अष्टौ' इति रूपं शङ्कासमाधानपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—अष्टनशब्दात् जसि 'अष्टाभ्य औशू' इति कृताकारादष्टनः परयोः जश्शपोरौशू, इत्यर्थात् अत्र कृताकारस्याभावेन औशू कथं स्यादिति चेद् ? उच्यते—'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यनेन हलादौ विभक्तौ अष्टनशब्दस्य विकल्पेन आत्वविधानात् एकमात्रालाघवेन अष्टभ्य इत्येव वक्तव्ये 'अष्टाभ्यः' इति दीर्घोच्चारणं व्यर्थं सत् जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति । वैकल्पिकं चेदम् अष्टन आत्वम् । तथा हि—'अष्टनो दीर्घात्' इति सूत्रे दीर्घप्रहणेन तद्वैकल्पिकत्वं ज्ञापयति । तथा हि—'अष्टनो दीर्घात्' इति सूत्रे दीर्घप्रहणं दीर्घांश्चिन्तयित्वा अष्टनशब्दात्सर्वनामस्थानभिन्नहलादिविभक्तीनाम् उदात्तत्वं मा भूदिति, तत्र हलादौ विभक्तौ नित्यमात्वप्रवृत्तेस्तद्वद्विरूपाभावेन व्यावर्त्यालाभात् तद् दीर्घप्रहणं व्यर्थं सत् आत्वस्य वैकल्पिकत्वं ज्ञापयति । तेन अष्टभिः अष्टाभिः इत्यादिरूपद्वयसिद्धिरूपं फलं सिद्धम् । एवं च 'अष्टभ्य औशू' इत्येव वक्तव्ये 'अष्टाभ्य औशू' इति दीर्घप्रहणज्ञापनेन प्रकृते अष्टनशब्दाज्जसि परे अष्टनो वैकल्पिके आत्वे कृते 'अष्टाभ्य औशू' इत्यनेन

जसः औशत्वे शकारस्येत्संज्ञायां कोपे च सवर्णदीर्घे वृद्धौ च 'अद्यौ' इति रूपस्य सिद्धिः । ननु अष्टनृशब्दाज्जसि विभक्तौ 'अष्टाम्य औश्' इत्यनेन जायमानः औशादेशः "आदेः परस्य" इत्यनेन जसोऽकारस्य स्थाने स्यादिति चेद् ? न । "अनेकाक्षित्सर्वस्य" इत्यनेन परत्वात् "आदेः परस्य" इति बाधित्वा सम्पूर्णस्यैव स्थाने भवतीत्याशयात् ।

प्रश्नः—'प्रियाष्टनः' इत्यत्र अल्लोपे जाते तत्र ष्टुत्वं कथं नेति तदुपपादय ।

उत्तरम्—प्रियाष्टनृ शब्दात् शसि भसञ्ज्ञायाम् "अल्लोपोऽनः" इति आकारलोपे क्त्वे विसर्गे च 'प्रियाष्टनः' इति सिद्धम् । नन्वत्र "ष्टुना ष्टुः" इति सूत्रेण टकारयोगे नस्य ष्टुत्वेन णकारः स्यादिति चेद् ? न । "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इति सूत्रेण अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् अकारव्यवधानात् टकारयोगाभावेन ष्टुत्वाप्रवृत्तेः । न च "पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्" इति निषेधः शङ्क्यः । "तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु" इति णत्वे कर्तव्ये तन्निषेधात् । न च लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया णत्वपदेन न ष्टुत्वनिष्पन्नणत्वस्य ग्रहणमिति प्रकृते पुनरपि स्थानिवद्भावनिषेधः स्यादिति वाच्यम् । "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इति परिभाषया भसञ्ज्ञाद्वारा बाह्यशस्रत्ययनिमित्तकाल्लोपस्य बहिरङ्गत्वेन अन्तर्भूतटकारयोगनिमित्तकत्वेन अन्तरङ्गष्टुत्वदृष्ट्या असिद्धत्वात् । न च यथोद्देशपक्षेण 'शज्ञः' इत्याद्याविष असिद्धपरिभाषाया अप्रवृत्तिरिति वाच्यम् । एकपक्षेणेष्टसिद्धौ पक्षान्तरेण दोषदानस्यानुचितत्वात् ।

प्रश्नः—त्वं + अम् अह + अमिति स्थिते अन्तरङ्गत्वात् अमि पूर्वरूपं बाधित्वा स्त्रीत्वविवक्षायां टाप् कथं नेति तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु त्वं स्त्री अहं स्त्री इत्यत्र त्व + अम् अह + अमित्यत्र परमपि "अमि पूर्वः" इति पूर्वरूपम् अन्तरङ्गत्वात् बाधित्वा "अजायतष्टाप्" इति टाप् प्रत्ययः कुतो नेति चेद् ? न । "अलिङ्गे युष्मदस्मदी" इत्यभियुक्तोकथा तयोर्लिङ्गबोधकत्वाभावेन स्त्रीत्वाभावात् टापोऽप्राप्तेः । ननु युष्मदस्मदोः स्त्रीलिङ्गाभावबोधकं नेदं वचनम्, अपि तु युष्मदस्मच्छब्दबोधिप्रयुक्तकार्दंन रूपेषु वैषम्याभावस्यैव बोधकमिति तयोः स्त्रीलिङ्गाबोधकत्वेन पुनरपि टाप्प्रवृत्त्यापत्तिस्तद्वत्त्येवेति चेद् ? न । "शेषे लोपः" इति सूत्रे स्थानिगोऽधिकरणत्वविवक्षया

‘शेषे’ इति सप्तमी स्वीकृत्य तस्याः षष्ठ्यर्थत्वावगमात् मपर्यन्तात् शेषस्य भाग-
स्य लोपः इत्यर्थस्वीकारेण मपर्यन्ताच्छेषस्य अद्इत्यस्य लोपेन त्व + अम् अद् +
अमिति जाते प्रकृतेः अदन्तत्वाभावेन टापः प्राप्तेरभावादिति दिक् ।

प्रश्नः—मपर्यन्तस्येत्यधिकारसूत्रं किमर्थं तदुपपाद्य ।

उत्तरम्—ननु “मपर्यन्तस्य” इति अधिकारसूत्राभावे अकञ्चिद्विष्टस्यापि
युष्मदोऽस्मदवशादेशे युवकाम् आवकाम् इत्यनयोः सिद्धिर्न स्यादिति चेद् ? न ।
ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्, अग्यत्र तु सुबन्तस्य ढेः
प्रागकच्” इत्यस्य ‘त्वयका मयका इत्यादिसिद्धये आवश्यकत्वात्, इहापि
अकचः प्रागादेशे ततः सुबन्तस्य ढेरकचि कृते प्रयोगद्वयस्य सिद्धेः सुलभत्वात् ।
नचैवं पुनरपि “मपर्यन्तस्य” इत्यधिकारस्य व्यर्थत्वमिति वाच्यम् । “मप-
र्यन्तस्य” इत्यधिकारसूत्राभावे समुदायस्यादेशे कृते ‘त्व + आ’ ‘म + आ’
इति जाते ‘योऽचि’ इत्यनेन अकारस्य यत्वे ‘तव्या म्या’ इत्यनिष्टप्रयोगा-
पत्तोः । अतो “मपर्यन्तस्य” इत्यधिकारसूत्रमावश्यकम् । नन्वत्रापि आ-
जादौ विभक्तौ परे अकारस्य एत्वमित्यर्थेकेन “अच्चे” इति न्यासेन उक्-
प्रयोगोपपत्तौ व्यर्थमेव तद् “मपर्यन्तस्य” इत्यधिकारसूत्रमिति चेद् ? न ।
‘युष्मद् + म्याम्, अस्मद् + म्याम्’ इति स्थिते अत्र “ओकारसकारभकारादौ”
इति वार्तिकेण अन्तरङ्गत्वात् सर्वनाम्नष्टेः प्रागकचि ततश्च “युवावौ द्विवचने”
इत्यनेन सर्वस्य स्थाने युवावादेशे आत्वे च ‘युवाभ्याम्’ आवाभ्याम्, इति स्यात्,
न नु युवकाभ्याम्, आवकाभ्याम् इति, तदर्थमस्य “मपर्यन्तस्य” इत्यधिका-
रस्यावश्यकत्वात् ।

प्रश्नः—यूयम् वयम् इत्यत्र अन्त्यलोपपक्षे जसोऽमादेशोऽपि त-
स्य स्थानिवद्भावेन जस् बुद्ध्या “जसः शी” इति द्वादेशः कथं नेति
तदुपपाद्य ।

उत्तरम्—युष्मच्छब्दात् अस्मच्छब्दाच् वा जसि “हे प्रथमयोरम्” इत्य-
मादेशे “यूयवयौ जसि” इत्यनेन यूयवयादेशयोः कृतयोः “शेषे लोपः” इत्यनेन
अन्त्यङेपे “अमि पूर्वः” इतिपूर्वरूपे यूयम् वयमिति च सिध्यतः । नवात्र ‘यूय +
अम्’ ‘वय + अम्’ इति दशायाम् अमादेशस्य स्थानिवद्भावेन जस्वारापेण अद्-
न्तसर्वनाम्नः परत्वात् “जसः शी” इत्यनेन शो आदेशः स्यादिति चेद् ? न । “अ-

ङ्कार्ये कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्” अङ्गकार्ये कृते पुनर्द्वितीयमङ्गकार्यं न भवति, इत्यर्थि-
कया परिभाषया यूयवयादेशयोः अङ्गकार्ययोः प्रवृत्त्यनन्तरं इयादेशप्रवृत्तेर्निषेधात् ।
इत्थं परिभाषा “ज्यादादीयसः” इत्याद्विधानेन ज्ञापिता । अन्यथा इकारलो-
पेन “अकृतसार्वधातुकयोः” इति दीर्घेण च ज्यायानिति सिद्धौ आद्विधानं व्य-
र्थमेव स्यात् ।

ननु ‘द्वयोः’ इत्यादिनिर्देशेन उक्तपरिभाषायाः अनित्यत्वात् अत्र सा न प्रव-
र्ततेति चेद् ? उच्यते—“हेप्रथमयोरम्” इति सूत्रे संयोगान्तलोपेन मकारं प्रवि-
ष्यमकारान्तामादेशस्य विधानेन विकारमात्रनिवृत्तेर्व्याख्याततया प्रकृते इयादेशा-
प्रवृत्तेरिति दिक् ।

प्रश्नः—“भ्यसो भ्यम्” इति सूत्रे भ्यम् अभ्यम् इति द्वयोरपि
पदच्छेदयोः सम्भवात् अत्र युक्ततरः कः तदुपपादय ।

उत्तरम्—“भ्यसो भ्यम्” इति सूत्रे भ्यम् अभ्यम् इति द्विधा पदच्छेदः,
तत्र भ्यमिति पदच्छेदे “शेषे लोपः” इति सूत्रस्य अन्त्यलोपपक्षे एव युष्मभ्यम्
अस्मभ्यम् इति च सिध्यतः अङ्गागलोपपक्षे तु तयोरसिद्धिः । अभ्यम् इति पदच्छेदे
तु “शेषे लोपः” इत्यस्य अन्त्यलोपपक्षे “अतो गुणे” इति पररूपे ‘युष्मभ्यम्’
‘अस्मभ्यम्’ इति च सिध्यतः । अङ्गागलोपपक्षे च अज्ज्ञीनपरेण संयोज्य युष्म-
भ्यम्, अस्मभ्यमिति च सिध्यतः । अयमेव पदच्छेदद्वये भेदः इत्यलम् ।

प्रश्नः—‘भाविनः सुटो निवृत्त्यर्थं ससुट्कनिर्देशः’ अस्याः फक्कि-
काया आशयः सुट्टु उपपादनीयः ।

उत्तरम्—ननु युष्मद् + आमिति स्थिते अदन्तात् परत्वाभावात् “भामि
सर्वनाम्नः सुट्” इति सूत्रेण अदन्ताद् परस्यामो विधीयमानस्य सुटो न प्रसक्तिः ।
न च “शेषे लोपः” इति सूत्रेण अन्त्यस्य दस्य लोपे कृते अदन्तात्परत्वम् आमो
ऽस्तीति वाच्यम् । आकमादेशात्प्राक् अनादेशतया “योऽचि” इत्यस्य प्राप्त्या
“शेषे लोपः” इत्यस्याप्रसक्तेः । तत्र आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तेरनपेक्षणाच्च ।
तथाच—ससुट्कनिर्देशो व्यर्थः सुभ्रासङ्गतिश्चेति चेद् ? न । आकमि “शेषे लोपः”
इति लोपे कृते प्राप्तस्य सुटो निवृत्त्यर्थं ससुट्कनिर्देशस्य कृतत्वात् ।

अयमाशयः—आभ्येव साम्प्रतारोपेण आकमादेशो भवति ससुट्कनिर्देशसाम-
र्थ्यात् । तथाच—आकमादेशे कृते ‘स्यात्विज्ञा’ / साम्प्रतवृद्धिरेव भवति, नत्वा-

स्त्वबुद्धिरिति न सुटः प्रसक्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“युवावौ द्विवचने” “त्वमावेकवचने” इति सूत्रद्वयेऽपि द्विवचनैकवचनशब्दयोरर्थपरत्वम्, उत प्रत्ययपरत्वं, तदुपपादय ।

उत्तरम्—“त्वमावेकवचने” “युवावौ द्विवचने” इति सूत्रद्वये एकवचन-
द्विवचनशब्दौ न प्रत्ययपरौ कन्त्वर्थपरौ यौगिकौ संख्यापरौ स्तः । अत एव
“त्वमावेकवचने” इति सूत्रयोरर्थः—‘एकस्य वचने बोधने समर्थयोयुष्मदस्मदोर्मपर्यन्त-
स्य त्वमौ स्तः विभक्तौ परतः, द्वयोर्वचने बोधने समर्थयोयुष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य
युवावौ स्तो विभक्तौ परतः, इति दीक्षितप्रभृतिभिः स्वीकृतः । फलं च—यदि
समस्यमाने युष्मदस्मदि द्व्येकत्ववाचिनि समासार्थश्च अन्यसंख्यश्चेत्तदा युवावौ
त्वमावपि स्तः ; इति थमश्लोकस्याभ्यवयः । अर्थो हि—त्वां मां वा अतिक्रान्तः
इति विद्मे “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे” इति समासे लभमाने युष्मदस्मदि एकत्व-
विशिष्टार्थवाचिनि यदा; समासार्थश्च मुख्यविशेष्यभूतो युष्मदस्मदर्थगतसंख्या-
पेक्षया अन्यसंख्यकश्चेदपि तदा युष्मदस्मदर्थगतैकत्वे त्वमौ स्तः । तदर्थग-
तद्विववाचिनि युष्मदस्मदि समासार्थश्चाभ्यसंख्याकस्तदा युवावौ एकवचनद्विवचन
त्वाभावेऽपि भवत इति । ननु युष्मदस्मदोरेकार्थकत्वे त्वमौ द्वयर्थकत्वे तु यु-
वावौ इति सर्वत्र स्यातामिति चेद् १ न । ‘त्वाहौ सौ’ ‘यूयवयौ जसि’ ‘तु-
भ्यमहौ जसि’ ‘तवममौ जसि’ इति जुजस् छे छसु परतो ये त्वाहादय आदेशा
विहितास्ते परत्वात् एकार्थकत्वे त्वमौ, द्वयर्थकत्वे युवावौ च ताधन्ते इत्याशयात् ।
द्व्येकसंख्यः समासार्थः बह्वर्थे युष्मदस्मदि यदि स्याताम्, तयोरद्व्येकतार्थत्वात्
युवावौ त्वमौ च न स्तः इति दिक् ।

प्रश्नः—‘प्रतीचः’ इत्यत्र अन्तरङ्गो यण् कुतो न तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु प्रतिउपसर्गपूर्वक अङ्गधातोः किनि तस्य सर्वस्य लोपे कृदन्त-
त्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायां नकारस्य “अनिदिताम्”
इति लोपे। प्रति + अच् + अस् इति स्थिते अत्र “अचः” इति अकारस्य लोपे
प्राप्ते तमन्तरङ्गत्वाद्वाधित्वा “इको यणचि” इति यणः स्यादिति चेद् १ न ।
“अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः” इति “अचः” इति लोपेन यणिमित्तल्याकारस्य
विनाशोऽभ्युक्तं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं-अच्प्रयुक्तं, कार्यं-यणरूपि कार्यं, न कुर्वन्ति, इत्य-
र्थिकया तस्य बाधात् ।

प्रश्नः—“अदसोऽद्रेः पृथङ्मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्” इति कारिका युक्तियुक्तमुपपादनीया ।

उत्तरम्—‘अदद्रि + अञ्’ इति स्थिते “अनिदिताम्” इति नलोपे कृते यणि अदष्टच् इति स्थिते ततः सौ तस्य लोपे “अदसोसेदादुदो मः” इति सूत्रेण दकारद्वयस्य, “चलीकलृप्यते” इत्यत्र “कृपो रो लः” इत्यनेन रीगृकारयोश्चभयोर्यथा लृप्त्वं तथैव अत्र दकारद्वयस्यापि मकारे, अकाररेफयोश्चोकारे कृते ‘अमुमुयङ्’ इति रूपम् । “अलोऽन्त्यस्य” इति सूत्रेण इकारस्योत्वं प्राप्नोति दकारोच्चारणाच्च रेफ-स्योत्वं प्राप्नोतीति दकारोपादानसामर्थ्येन रेफस्यैवोत्वं स्यादिति पक्षे अन्त्यबाधे अन्त्यसदेशस्य” इति परिभाषया परस्यैव मकारे ङकारे च कृते “अदमुयङ्” इति रूपम् । ‘असेः’ इति निर्देशेन यत्र सकारस्याकारो भवति; तत्रैव मुत्वं भवतीति पक्षे अत्र मुत्वाप्राप्तेः ‘अदष्टच्’ इति रूपम् । इदं पक्षत्रयमपि भाष्यसम्मतम् । अत उक्तम्—

अदसोद्रेः पृथङ्मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत् ।

केचिदन्त्यसदेशस्य नेत्येके सेर्हि दृश्यते” ॥ इति ।

प्रश्नः—‘अप्रत्ययग्रहणं ज्ञापयति अन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिरिति तेनायस्कारः इत्यत्र ‘अतः कृकमिति सः’ इत्येत् रूपं क्रियताम् ।

उत्तरम्—“विष्वग्देवयोश्च देशद्वयज्ञतावप्रत्यये” इत्यत्र अप्रत्ययग्रहणं किमर्थम् । तदभावे उत्तरपदाधिकारत्वात् अञ्चुधातुत्तरपदे परे विष्वग्देवयोः सर्वनाम्नश्च देशद्वयादेशो भवति इत्यर्थेन यत्र लुप्तप्रत्ययान्तकेष्वञ्चुधातुत्तरपदं यथा—अदमुयङ् इत्यादि तत्रैव तत्प्रवृत्तेः, विष्वग्ज्ञानमित्यादौ च अज्ञानमित्युत्तरपदस्य अञ्चुधातुरूपत्वाभावेन तस्याप्रवृत्तौः सर्वत्राऽदोषादिति अप्रत्ययग्रहणं व्यर्थं सत् ज्ञापयति—“धातुग्रहणे तदादिविधिः” इति । एवं च प्रकृते अप्रत्ययग्रहणाभावे अञ्चुधात्वाद्युत्तरपदे इत्यर्थापत्त्या ‘विष्वग्ज्ञानम्’ इत्यत्र अज्ञानमित्यस्य अञ्चुधात्वादित्वाद्वाद्भावेनापत्तिः । अतस्तु अप्रत्ययग्रहणं स्वांशे चरितार्थम् । अन्यत्र फलं तु ‘अयस्कारः’ इत्यत्र “अतः कृकम्” इति सूत्रेण कृधात्वादाद्युत्तरपदे इत्यर्थे-ल्लाभेन कारशब्दे परे विसर्गस्य सादेशसिद्धिरिति विद् ।

प्रश्नः—“अणिदच्चा” इति सूत्रे अज्ग्रहणं किमर्थम् ? अधातो-रित्यस्याऽपि किम् फलं; तदुपपादय ।

उत्तरम्—अञ्जतेरुगित्वादेव नुमि सिद्धे “उगिश्चाम्” इति सूत्रे अङ्ग-
हणम्—“सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति” इति न्यायेन नियमय-
ति—“धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि नलोपिनोऽञ्जतेरेव” इति । तेन ‘स्रद्, ष्वद्’ इत्यादौ
उगित्प्रयुक्तो नुम् न । ‘उखास्रत् ब्राह्मणी’ इत्यादौ च नुम् लोपो न भवतः । ‘न-
लोपिन’ इति विशेषणं तु ‘प्राङ् ब्राह्मणी’ इत्यत्र ङीबभावार्थम् । न च पूर्वज्ञाप-
नेनैव अञ्चुधात्वतिरिक्तानां धातूनां नुमोऽभावे सिद्धे; अधातुग्रहणं व्यर्थमिति वा-
च्यम् । अधातोरिति ग्रहणसामर्थ्यात् भूतपूर्वस्य अधातोरपि उगितो नुम्भवतीति
ज्ञापनेन सार्थक्यात् । तेन गोमच्छब्दात् कथञ्चनत्प्रकृतिकक्रियन्तात् सुप्रत्यये “अ-
त्वसन्तस्य चाधातोः” इति दीर्घे “उगिश्चाम्” इति नुमि ह्रस्व्यादिलोपे संयो-
गादिलोपे च गोमानिति सिध्यति ।

प्रश्नः—‘सेदुषः’ अस्य सिद्धिः शङ्कासमाधानपूर्वकमुपपादनीया ।

उत्तरम्—शद्लृधातोः “भाषायां सदवसञ्चुषः” इति लिटिः क्वसुः, उकावि-
तौ, “लिटि धातोः” इति द्वित्वं, “पूर्वोऽभ्यासः” इति अभ्याससंज्ञा, “हलादिः
शेषः” इति आदिह्रस्वः शेषः । “अत एकहल्मध्ये” इति एत्वाम्भ्यासलोपो “वस्वे-
काजाह्वसाम्” इति इट् सेदिवस् शब्दः । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां ततःशसि
भसंज्ञायां “वसोः सम्प्रसारणम्” इति सम्प्रसारणे प्राप्ते ततः पूर्वम् “अकृतव्यूहाः
पाणिनीयाः” इति परिभाषया कृतमपि कार्यं निवर्तयन्ति इत्यर्थेन इडागमस्य
निवृत्तौ ततः सम्प्रसारणे “सम्प्रसारणाच्च” इति पूर्वरूपे “आदेशप्रत्यययोः” इति
षत्वे कृत्वे विसर्गे च ‘सेदुषः’ इति रूपस्य सिद्धिः ।

प्रश्नः—“औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः सादुत्वं च”
अस्याशयः कः तदुपपादय ।

उत्तरम्—इदमत्र तात्पर्यम्—यत्र “औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः
सादुत्वं च” इति वार्तिकं लगति, तत्र औत्वप्रतिषेधः, उत्वं चेति कार्यद्वयं भवतीति
‘असकः’ इत्यस्य सिद्धिः । ‘असकौ’ इत्यत्र “असौ औ सलोपश्च” इति औकारा-
देशे विहिते तत्र वार्तिकविहितमुत्त्वमपि न भवतीति दिक् । इति हलन्तपुल्लिङ्गाः ।

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

प्रश्नः—‘विमलदिवि’ इत्यत्र मन्तरवर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य “वि-
च उत्” इति उत्वापत्तिः कथं वारिता तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु यथा 'राजपुरुषः' इत्यत्र पूर्वपदस्य अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदसंज्ञायां सत्यां नलोपो भवति, तथा 'विमलदिवि' इत्यत्रापि "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्" इति सूत्रेण प्रत्ययलक्षणे दिव इत्यस्य पदसंज्ञायां सत्यां "दिव उत्त" इति उक्तं स्यादिति चेद् ? न । "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः" इति वार्तिकेन प्रत्ययलक्षणनिषेधात् । वार्तिकार्थस्तु—उत्तरस्य—उत्तरपदस्य, पदत्वे पदसंज्ञायां, पदप्रयुक्ते कार्ये कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणं न भवतीति, उत्तरपदस्य आद्यक्षरस्य कार्ये कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणं भवत्येवेति । तथाहि—दध्ना सेचो दध्निसेचो इत्यत्र सकारस्य "सात्पदाधोः" इत्यनेन षत्वनिषेधे कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणेन सेच इत्यस्य पदत्वमस्त्येव चकारस्य कुत्वे कर्तव्ये तु पदत्वं नास्तीति ।

प्रश्नः—'अहः, अहोभ्याम्' इत्यत्र रत्वस्त्वयोरसिद्धत्वात् नलोप-प्रसङ्गः कथं वार्यते, तत् दर्शय ।

उत्तरम्—'अहन् + सु' इति दशायां हल्ङ्यादिना सुलोपे 'रोः सुपि' इत्यनेन नकारस्य रुत्वे तस्य विसर्गं च कृते 'अहः' इति रूपम् । अहन् + भ्याम्' इत्यत्र "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इतिपदसंज्ञायाम् "अहन्" इत्यनेन रुत्वे "हशि च" इत्युत्वे गुणे च कृते 'अहोभ्याम्' इति सिध्यति ।

ननु 'अहः' इत्यत्र 'अहोभ्याम्' इत्यत्र च रत्वस्त्वयोरसिद्धत्वात् "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति सूत्रेण उभयत्रापि नलोपापत्तिरिति चेद् ? न । "अहन्" इति सूत्रस्य आवृत्तिं कृत्वा एकेन सूत्रेण अहन्शब्दो यादृशो वर्तते तादृशो वर्तताम् ; न तु विकृतिमियादित्यर्थबोधनात् । द्वितीयसूत्रेण च अहन्नित्यस्य रुः स्यात् पदान्ते इत्यर्थेन 'अहः, 'अहोभ्याम्' इत्यादौ नलोपापत्तेर्वारणात् । आवृत्तौ मानं च—"रूपराश्रित्यन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्" इति वार्तिकमेव । अन्यथान लोपे अहोरूपम् इत्यादौ हकारघटक—भकारस्य रेफादेशे रुत्वादेशे वा नास्ति वैलक्षण्यम् । अकाराभावेन "हशि च" इति सूत्रस्याप्रवृत्तेः ।

प्रश्नः—'दीर्घाहा' इत्यत्र "अहन्" इति रुत्वं भवति न वा तत्सोपपत्तिकं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—"अहन्" इति सूत्रे पदाधिकारात् तं प्रति अहन्शब्दस्य विशेषणत्वेन "येन विधिस्तदन्तस्य" इति सूत्रेण तदन्तविधौ अहन्शब्दान्तस्याऽपि रुः स्यात्पदान्ते इत्यर्थेन दीर्घाहन्शब्देऽपि रुत्वम् ।

न च “ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति” इति परिभाषया तदन्त-
विधिनिषेधात्कथमत्र तदन्तविधिरिति वाच्यम् । “ग्रहणवता प्रातिपदिकेन” इति
परिभाषायाः प्रत्ययविधिविषयकत्वेनात्राप्रवृत्तेः । न च तदन्तेऽपि क्त्वविधानात्
‘दीर्घाहौ’ इत्यादावपि अन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वात् रत्वापत्तिरिति वाच्यम् ।
“उत्तरपदत्वे च” इति निषेधेन अपदत्वात् उक्तापत्तेरयोगात् । ‘दीर्घाहन् + सु’
इति दशायां परत्वात् उपधादीर्घे कृते हल्ङ्यादिसूत्रेण सुलोपे प्रत्ययलक्षणेन “असु-
पि” इति निषेधात् “रोऽसुपि” इति सूत्रस्याऽप्रवृत्तौ “अहन्” इत्यनेन क्त्वे “भो-
भगो” इति अवर्णपूर्वत्वाद्यत्वे “हलि सर्वेषाम्” इतियलोपे ‘दीर्घाहा’ इति रूपम् ।

ननु नान्तलक्षणदीर्घस्य परत्वेऽपि अकृतव्यूहपरिभाषया हल्ङ्यादिलोपात्प्राग्
प्रवृत्तिर्न संभवति, क्त्वेन नकास्य विनाशोन्मुखत्वात् ; इति चेद् ? न । क्त्वस्या-
सिद्धत्वात् , नान्तलक्षणदीर्घे बाधाभावात् । सम्बुद्धौ तु प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य
‘असम्बुद्धौ’ इति प्रवृत्तेरुपधादीर्घाभावे क्त्वे “हशि च” इत्युत्वे आद्गुणे ‘दीर्घाहो’
निदाघ’ इति रूपम् ।

प्रश्नः—‘असृजः पदान्ते कुत्वं सृजेः किनो विधानात् । विश्व-
सृडादौ तु न । ‘रज्जुसृङ्भ्याम्’ इति भाष्यप्रयोगात् । इयं फक्किका
साधु व्याख्येया ।

उत्तरम्—असृजशब्दस्य पदान्तविषये कुत्वं भवति । यद्यपि इह क्विप्
प्रत्ययो, न तु क्तिन्, तथापि कुत्वमेव । “क्विनप्रत्ययस्य कुः” इत्यस्य क्विन्
प्रत्ययो यस्माद्दृष्टः इत्यर्थकरणात् । “ऋत्विक्दधृक्क्षक्” इत्यत्र सृजेः क्विनो
विधानात् असृग् इत्यत्र क्विप्प्रत्ययेऽपि कुत्वप्राप्तेः । नचैवं ‘विश्वसृङ्’ इत्यत्रापि
कुत्वापत्तिरिति वाच्यम् । “सृजिदृशोक्षेयमकिति” इति सूत्रे ‘रज्जुसृङ्भ्याम्’
इति भाष्यप्रयोगात् अव्ययपूर्वपदे कुत्वाभावबोधनेन उक्तप्रयोगे आपत्यभावात् ।

ननु षत्वविधायकसूत्रे ‘सृज्-सृज्-यज्’ इति विशिष्टग्रहणात् षत्वस्य कुत्वा-
पवादत्वात् षत्वस्यैव प्राप्तिर्न कुत्वस्येति चेद् ? उच्यते—“ब्रश्चभ्रसृजसृज्”
इति सूत्रे सृजियज्योः पदान्ते षत्वं विधीयते । षत्वं कुत्वापवादः । तेन असृजः
क्विप्प्रत्ययान्तस्य षत्वमेवोचितम् । स्रग् इति तु ऋत्विग्” इत्यादिना निपा-
तनात् कुत्वेन साधु । निपातनं नाम—अभ्याहृशे प्रयोगे प्राप्ते अभ्याहृशप्रयोग-
करणम् । निपातनेन अपवादश्चात्राप्रवृत्तिमात्रे बोध्यते । कुत्वं सु सूत्रेणैव भवति ।

एवं च असृगिति अस्यतेरौणादिकेन ऋच् प्रत्ययेन साधु ।

प्रश्नः—वेभिदि ब्राह्मणकुलानि इत्यत्र नुमागमः कुतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—वेभिद्धातोर्यङ्भावात् किपि अतो लोपे यलोपे च कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमाबहुवचने जसि “जइशसोः शिः” इति इयादेशे ‘वेभिदि’ इति सिद्धम् । नचात्र इयादेशस्य “शिः सर्वनामस्थानम्” इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां “नपुंसकस्य झलचः” इत्यनेन झलन्तलक्षणो नुम् स्यादिति वाच्यम् । “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इत्यनेन अल्लोपस्य स्थानिवद्भावात्, अकारबुद्ध्या झलन्तत्वाभावेन नुमोऽप्राप्तेः । न च अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् अजन्तलक्षणानुम् स्यादिति वाच्यम् । “अचः परस्मिन्” इति सूत्रेण पूर्वस्य विधौ स्थानिवद्भावविधानात् स्वविधौ स्थानिवद्भावाप्रसक्तेरिति दिक् ।

प्रश्नः—शोभनं आपः यस्मिन् सरसि तत् स्वप्, तस्मात् जसि अत्र नुमदीर्घयोः प्राप्तयोर्मध्ये केन भाव्यम् तदुपपादय ।

उत्तरम्—“लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्” इति परिभाषा नित्यात्परादपि नुमः पूर्वं “अप्तृन्” इति दीर्घे पञ्चानुमि “स्वाम्पि” इति सिध्यति । यदि च प्रतिपदोक्तं कुत्रचित् चरितार्थं न स्यात् ; तदा लक्षणप्रतिपदोत्तपरिभाषाविषयो भवतीति पक्षे “आपः” इत्यत्र “अप्तृन्तृच्” इति सूत्रस्य सकलत्वेन परिभाषावेषयाभावात् पूर्वं नुमि उपधाया अभावेन दीर्घाभावे ‘स्वाम्पि’ इति रूपं स्यादिति ।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गाः ।

अथ स्त्रीप्रत्ययाः ।

प्रश्नः—अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह पञ्चाजी । “छिगोः” इति ङोप् । अत्र हि समासार्थसमाहारनिष्ठं स्त्रीत्वम् । इयं फक्किका साधूपपादनीया ।

उत्तरम्—“प्रत्ययः” “परश्च” इति निर्देशेन ‘प्रत्ययविधौ पञ्चम्याः युक्तत्वेन “अजाद्यतष्टाप्” इति सूत्रे अजाद्यतः इति पदस्य पञ्चम्यन्तत्वे प्रातिपदिकादित्यधिकारात् प्रातिपदिकादित्यस्य पञ्चम्यन्तत्वेन अजाद्यतः इत्यस्यापि पञ्चम्य-

न्तत्वेन द्वयोरेकविभक्तित्वेन विशेष्यविशेषणभावसत्त्वात् “येन विधिस्तदन्त-
स्य” इति सूत्रेण तदन्तविधौ अजाद्यत्तात् प्रातिपदिकाष्टाप् स्यात् स्त्रीत्वे घो-
त्ये इत्यर्थेन ‘पञ्चाजी’ इत्यत्रापि टाबापत्तिः । “समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः” इति
तदन्तविधिनिषेधस्तु न शङ्क्यः । अमहत्पूर्वग्रहणेन “अनुपसर्जनात्” इत्यधिकारेण च
स्त्रीप्रत्यये तदन्तविधिज्ञापनात् । एवं च ‘पञ्चाजी’ इत्यत्र टाबापत्तिवारणाय ‘अ-
जाद्यतः’ इति पदं सूत्रे षष्ठ्यन्तमेव । एवं सति प्रातिपदिकादित्यस्य पञ्चम्यन्तत्वेन
अजाद्यतः इत्यस्य च षष्ठ्यन्तत्वेन द्वयोः विशेषणविशेष्यभावाभावेन तदन्तवि-
ध्यभावात् अजादीनाम् अकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र घोत्ये प्रातिपदि-
काष्टाप् स्यादित्यर्थेन पञ्चाजीति समासे पञ्चाजशब्दसमुदायवाच्यं स्त्रीत्वं वर्तते,
न तु अजमात्रशब्दवाच्यं स्त्रीत्वमिति न तत्र “अजाद्यतष्टाप्” इत्यनेन टापः प्रस-
क्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“शूद्राचामहत्पूर्वा जातिः” अस्य वार्तिकस्य युक्तार्थो
वर्णनीयः ।

उत्तरम्—“शूद्राचामहत्पूर्वा जातिः” इत्यत्र “शूद्रा च” इति एको योगः ।
“अमहत्पूर्वा जातिः” इत्यपरो योगः । तत्र पूर्वयोगे जातेरित्यनुकुर्यते । तेन शूद्र-
शब्दष्टापं लभते जातिश्चेद्वाच्या इत्येकोऽर्थः । महत्पूर्वः शूद्रशब्दष्टापं न लभते
जातिश्चेद्वाच्या इति द्वितीयोऽर्थः । एवं च शूद्रत्वजातिविशिष्टा इत्यर्थे शूद्रशब्दा-
ष्टापि दीर्घे शूद्रेति सिध्यति । ‘महाशूद्री’ इत्यत्र तु महत्पूर्वकत्वेन टापोऽभावः,
‘पुंयोगादाख्यायाम्’ इत्यनेन ङीप् सति तत्सिद्धिः ।

प्रश्नः—“ङगिदचाम्” इति सूत्रे अज्ग्रहणेन धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि
अञ्चतेरेवेति नियम्यते । तेनेह न ‘उखास्त्रत्’ अस्या आशयः प्रदर्शनीयः ।

उत्तरम्—उखापूर्वकसंसुधातुर्गित् तस्मात् किपि “अनिदिताम्” इति नलोपे
कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सुप्रत्यये हल्ङ्यादिङोपे सकारस्य पदान्तत्वात् “व-
सुर्त्तसु” इति सूत्रेण दत्त्वे चत्वे च कृते उखास्त्रदिति ।

नचात्र ङगित्वात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् “ङगितश्च” इति ङीबापत्तिरिति वा-
च्यम् । “ङगिदवां सर्वनामस्थानेऽधातोः” इति सूत्रे अञ्चुधातोर्गित्वेन जुमि सिद्धे
अज्ग्रहणेन “सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति” इति नियमात् धा-
तोश्चेदुगित्कार्ये तर्ह्यञ्चतेरेवेति नियमात् अञ्चुधात्वविरुद्धात्नानुगित्कार्याभावज्ञा-

पनेन संसुधातावपि तदप्रवृत्तेरित्यलम् ।

प्रश्नः—“वनोरच” इत्यनेन वन्नन्तादेव डाब्बिहित इति ‘अति-
सुत्तरी’ इत्यत्र डीप् रश्चादेशश्च कथं ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—“प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्” इति परिभाषया प्रत्ययान्ततदादिरूपार्थस्य लाभो भवति । ततश्च प्रत्ययान्ततदादि-
विशेषणम् प्रातिपदिकं च विशेष्यमिति “येन विधिस्तदन्तस्य” इति सूत्रेण पुन-
स्तदन्तविधौ प्रत्ययान्ततदाद्यन्तरूपं यत्प्रातिपदिकम् , तस्मात् स्त्रीत्वे चोत्वे डीप्
स्यात् , रश्चान्तादेशः इत्यर्थलभः । न च “ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधि-
नोस्ति” इति अत्र द्वितीयतदन्तविधिर्न स्यादिति वाच्यम् ? ‘स्त्रियाम्” इत्य-
स्मिन्नधिकारे “शूद्राचामहत्पूर्वा जातिः” इत्यत्र अमहत्पूर्वेतिग्रहणात् सा न प्रव-
र्तते इति ज्ञापनात् ।

प्रश्नः—“टावृचि” इत्यत्र प्राचीननवीनयोर्मते अर्थभेदः कीदृशः,
तमुपपादय ।

उत्तरम्—“पादोऽन्यतरस्याम्” इति सूत्रेण प्राप्तस्य डीपः इदं “टावृचि”
इति सूत्रमपवाद इति प्राचीनमतम् । नव्यास्तु—“शेषाद्विभाषा” इति सूत्रा-
भावे “पादस्य लोपोऽहत्यादिभ्यः” इत्यादिसूत्राणां यथा सावकाशत्वम् , तथा
“टावृचि” इति सूत्रस्याऽपि “पादोऽन्यतरस्याम्” इति सूत्रस्य वैकल्पिकत्वेन
तदभावपक्षे सावकाशत्वमेव युक्तम् । एवञ्चास्य पूर्वसूत्रस्यापवादत्वं न युक्तमित्या-
हुः । परन्तु अत्र प्राचीनमतमेव ज्यायः ।

तथाहि—अपवादशब्दो बाधकपरः, “पादोऽन्यतरस्याम्” इति सूत्राभावपक्षे
“टावृचि” इति सूत्रं चरितार्थम् । ऋगर्थातिरिक्ताथं “पादोऽन्यतरस्याम्” इति
सूत्रं चरितार्थम् । ऋगर्थे तु तयोः प्राप्तयोः “टावृचि” इति टावेवेति परत्वमूलकं
बाधकत्वं चात्र युक्तमिति दिक् ।

भाष्ये तु पादशब्दसमानार्थकं पदशब्दमवष्टभ्य इदं सूत्रं प्रत्याख्यातम् ।

प्रश्नः—“पञ्च, चतस्रः” इत्यत्र नान्तत्वात् उगित्वाच्च डोप् कथं
नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—पञ्चनृशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि शसि वा “ऽणान्ताः षट्” इति
षट्संज्ञायां “षट्भ्यो लुक्” इति लुकि “नलोपः” इतिपदिकान्तस्य” इति नलोपे

पञ्चेति सिद्धम् । नचात्र कार्यकालपक्षे प्रतिकार्यं संज्ञाप्रवृत्तेः सिद्धान्तिततया जस्रासलुगर्थं प्रवृत्तया षट्संज्ञया अन्यकार्यसाधनासम्भवेन नलोपोत्तरं 'पञ्च' इत्यत्र षट्संज्ञया अप्राप्त्या "न षट्स्वस्त्रादिभ्यः" इत्यस्याप्रवृत्तेरदन्तत्वादजायत-
ष्टाप्" इति टाप् स्यादिति वाच्यम् ? नलोपे कृतेऽपि नलोपस्य "नलोपः सुप्स्वर-
संज्ञातुर्विविधेषु कृति" इति नियमेन षट्संज्ञादृष्ट्या असिद्धत्वेन नान्तबुद्ध्या तत्संज्ञा-
प्रवृत्तौ "न षट्" इति निषेधेन टापोऽभावात् । न च "न षट्" इत्यनेन ङीप् एव
निषेधः स्यादिति वाच्यम् , "न षट्स्वस्त्रादिभ्यः" इत्यनेन हि षट्संज्ञकेभ्यः स्व-
स्त्रादिभ्यश्च स्त्रियां यद् यद् प्राप्नोति तस्य सर्वस्याऽपि निषेधः क्रीयते इति टापोऽ-
पि निषेधसत्त्वात् । 'चतसृ + जस्' इत्यत्र ऋदन्तलक्षणङीप् न । स्वस्त्रादिषु चत-
सृशब्दस्य पाठात् ।

प्रश्नः—“प्रत्ययस्थात्” इति सूत्रे पूर्वस्येति पदं किमर्थं तदु-
पपादय ।

उत्तरम्—“प्रत्ययस्थात्कात्” इति सूत्रे पूर्वस्येत्यस्याभावे “तस्मादित्यु-
त्तरस्य” इति परिभाषया अव्यवहितपरस्येत्यंशोपस्थितौ प्रत्ययस्य ककाराव्यवहित-
परस्य अकारस्योत्वं स्यादित्यर्थे 'कटुका' इत्यत्र इत्वापत्तिः । न च कटुक +
आ' इति दशायाम् “अकः सत्रणं दीर्घः” इत्यनेन तस्य बाधः स्यादिति वाच्यम् ।
“वाणांदाङ्गं बलीयः” इति परिभाषया अङ्गकार्यस्य बलवत्त्वात् सत्रणं दीर्घाप्रवृ-
त्तेः । कृते तु पूर्वग्रहणे तत्सामर्थ्यात् परिभाषायाः पूर्वमप्रवृत्तौ पूर्वस्याकारस्येत्वभि-
ति सूत्रार्थेन प्रकृतेऽदोषात् ।

प्रश्नः—“भस्त्रौषाजाज्ञास्त्रानभ्रपूर्वाणामपि” इति सूत्रस्य व्या-
ख्या कार्या ।

उत्तरम्—यत्र भस्त्राशब्दोऽनुपसर्जनः तत्र “अभाषितपुंस्काच्च” इत्यनेन इ-
त्वम् । उपसर्जने तु “भस्त्रा” इत्यनेन इत्वम् । “अनेषका” इत्यादौ इत्वं न सि-
ध्यति । तथाहि—‘न + सु, ‘एतत् + सु’ इत्यलौकिकविग्रहे “अन्तरङ्गानपि विधीन्
बहिरङ्गो लुक् बाधते” इति परिभाषया त्यदादित्वात्प्राक् सुपो लुकि ततस्त्यदादि-
समासरूपप्रातिपदिकाद्यापि स्रष्टृविशिष्टस्य समासत्वे जाते सति समासघटकसुपः
पर एवार्थं टाप् ह्यतीत्वमत्र न भवति । ‘अष्टपः’ इति प्रतिषेधात् । इह सूत्रे “उदी-
चामासःस्थाने” इत्यस्मात् आतः स्थाने इत्यनुवर्तते । तच्च स्वशब्दाकारस्य वि-

शेषणम् । द्रव्येषथोस्तु सर्वनामत्वेन टेः प्राक् अकचि कृते ककारात्पूर्वं ह्रस्वाकारस्य विद्यमानत्वेन आतः स्थाने अकारस्यासम्भवात् । भ्रमादीनां सर्वत्रैव आतः स्थानिन एव आकारस्य संभवेन व्यभिचाराभावात् । स्वशब्दस्तु यत्र आरम्भीयरूपार्थस्य वाचकः तत्रैव स्त्रीलिङ्गे वर्तते । एवं सति अनुपसर्जनवाचित्वे अकचि सति आकार-स्थाने अकाराभावेन उदाहरणं न भवति, किन्तु यत्र उपसर्जनवाची स्यात्, तत्र सर्वनामत्वाभावेन कप्रत्यये कृते उदाहरणं सम्भवति । तथाच स्वस्या निष्क्रान्ता इति विग्रहे उपसर्जनह्रस्वे टापि अज्ञाता निस्वा निस्विका निस्वका; इति रूपद्वयं सिद्धम्, आत्मीये स्विक्तेति नित्यमित्वमित्यलम् ।

प्रश्नः—बहुव्रीहेर्भाषितपुंस्कत्वात् ततो विहितस्य नित्यम् । भ्रमाज्ञाता अखट्वा अखट्विका, शैषिके कपि तु विकल्प एव । इयं फक्किका युक्तियुक्तं व्याख्येया ।

उत्तरम्—“अभाषितपुंस्काच्च” इत्यस्य न भाषितः पुमान् येन शब्देन सोऽभाषितपुंस्कः । तस्माद्विहितस्यातः स्थाने अत इदं स्यादित्यर्थः । तेन बहुव्रीहेर्भाषितपुंस्कत्वात् ततो विहितस्य नित्यम् । अत्रेदं तात्पर्यम्—अविद्यमाना खट्वा यस्या इति विग्रहे “शेषाद्विभाषा” इति कपो वैकल्पिकत्वेन तदभावपक्षे “गोस्त्रियोऽपसर्जनस्य” इत्युपसर्जनह्रस्वे ‘अखट्व’ इति जाते ततश्चापि सुपि अज्ञातादौ के सुब्लुकि “केऽणः” इति ह्रस्वे पुनश्चापि अभाषितपुंस्काद्विहिताकारस्थानिकाकारस्य अभावादेव तद्वैकल्पिकत्वाप्राप्तौ “प्रत्ययस्थात्” इति नित्यमित्वम् । परविशेषणत्वाभ्युपगमे तु आतः स्थानिकाकारस्य अभाषितपुंस्कखट्वाशब्दात्परत्वेन प्रकृतसूत्रेण वैकल्पिकत्वापत्तिः स्यादेव । शैषिके कपि तु विकल्प एव । अस्यायम्भावः—न खट्वा सु इति स्थिते कपि सुब्लुकि प्रत्ययलक्षणेन भागद्वयस्य स्वन्तत्वात्समाससंज्ञायां “समासान्ताः” इति शास्त्रबलेन कबन्तस्यैव समासत्वात् उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तसमासरूपप्रातिपदिकाभावात् “गोस्त्रियोः” इति ह्रस्वत्वाभावेन “केऽणः” इति प्राप्तह्रस्वत्वस्य “न कपि” इति निषेधेन “आपोऽन्यतरस्याम्” इति ह्रस्वे कपः प्राग्वर्तिखट्वशब्दात्परस्य आपो अभाषितपुंस्काद्विहितत्वेन तत्स्थानिकाकारस्य वैकल्पिकत्वे ‘अखट्विका’ ‘अखट्वका’ इति । ह्रस्वाभावे तु ‘अखट्वाक’ इति त्रिविधं रूपम् अत्र निर्बाधमिति दिक् ।

प्रश्नः—“अनुपसर्जनात्” अस्याधिकारः । किं फलं तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु अनुपसर्जनाधिकारो व्यर्थः ? स च बहुकुरुचरा इत्यादौ ङी-
वादिनिवृत्तिफलकः । नह्यत्र तदन्तविधिं विना ङीवादिप्राप्तिः । तदन्तविधिश्च
प्रत्ययविधौ प्रतिषिद्ध इति चेद् ? न । “अनुपसर्जनात्” इति सूत्रं व्यर्थं सत् ‘स्त्रीप्र-
त्यये तदन्तविधिं ज्ञापयति’ इत्याशयात् ।

तथाच बहुकुरुचरा शब्दे यद्धि कुरुचरेति टित् न तदनुपसर्जनम् इति तत्र
ङीप् भवति, यद्धि बहुकुरुचेति टिदन्तं तद्धि उपसर्जनम् इति तत्र ङीपोऽभावः
सूत्रस्य फलम् । ननु “श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्” इति न्यायेन स्त्रियां
विद्यमानं यद्विदादि तदन्तं तस्मात् ङीप् इत्यर्थे सति कुरुचरशब्दस्य स्त्रियामभा-
वेन ङीप् विधायकसूत्रस्य प्राप्तिरेव न इति चेद् ? न । प्राधान्यात्सूत्रारम्भसाम-
र्थ्याच्च स्त्रियामित्यस्य प्रातिपदिकादित्यस्य विशेषणत्वात् । अन्यथा पुनरपि सूत्रं
व्यर्थं स्यात् । नच प्राधान्यात् “अनुपसर्जनात्” इति प्रातिपदिकविशेषणं स्यात् त-
थाच कुरुचरेति प्रातिपदिकम् अनुपसर्जनमेवेति ङीप् स्यादेवेति वाच्यम् । सूत्रारम्भ-
सामर्थ्येन “अनुपसर्जनात्” इत्यस्य गृह्यमाणविशेषणत्वात् । एवंच अनुपसर्जनं यद्वि-
दादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप् स्यादिति मूलोक्तार्थः सम्पन्नः ।
फलं तु—“कुरुचरी” इति । उपसर्जतत्वात् बहवः कुरुचराः यस्यां सा बहुकुरुचेति
बहुव्रीहिरन्यपदार्थप्रधानः । तथा च टिदन्तत्वस्योपसर्जनत्वात् ङीष् नेति दिक् ।

प्रश्नः—‘वक्ष्यमाणा’ इत्यत्र स्थानिवद्भावेन टित्वमुगित्वं वा आ-
नीय टित्वाद्गुगित्वाद्वा ङीप् कुतो नेति तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु वच् धातोर्लटि तत्स्थाने शानचि “स्यतासि” इति स्ये, कुत्वे
षत्वे च “आने मुक्” इति सुगागमे जाते “अजाद्यतष्टाप्” इति टापि ‘वक्ष्यमाण’
इति निष्पन्नम् ।

न च “नल्यपि” इति सूत्रारम्भसामर्थ्येन अनुबन्धकार्यं कर्तव्ये अनल्लिखावि-
तिनिषेधाभावेन स्थानिवत्वाद्गुगित्वमुगित्वं वावलङ्ग्य ‘वक्ष्यमाणा’ इत्यत्र टित्वा-
द्गुगित्वाद्वा ङीप् स्यादिति वाच्यम् । यासुटो ङीत्वेन ‘लाभ्रयमनुबन्धकार्यं न आ-
देशानां भवति इति तन्निषेधात् । न च “ङिच्च पिङ्ग पिङ्ग ङिन्न” इति आव्येण
यासुटोङित्वं तत्र सार्थकमिति वाच्यम् । “हलः इनः शानज्झौ” इति सूत्रे शानचः
शित्वेन वचिदनुबन्धकार्येऽपि “अनल्लिखौ” इति निषेधो भवतीति ज्ञापनात् ।
एवंचात्र स्थानिवद्भावो न भवतीति ङीपोऽप्रवृत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—‘ताच्छीलिके णेऽपि’ इत्यत्र किमप्रमाणं ? चौरौति कथं सिध्यतीति तदुपपादय ।

उत्तरम्—चुरा शीलमस्या इति विग्रहे “शीलं” “छत्रादिभ्यो णः” इति णप्रत्यये ब्रुवौ आकारलोपे “ताच्छीलिके णेऽपि” इति वचनात् ङीपि चौरौति सिध्यति । उक्तवचने प्रमाणं हि—“कर्मस्ताच्छील्ये” इति सूत्रम् । तत्र हि “अन्” इति विहितं प्रकृतिमाधं बाधितुं ढिलोपो निपात्यते । यदि तु णप्रत्यये अण्कार्यं न स्यात्, तर्हि किं तेन वचनेन । तदेव व्यर्थं सत् ज्ञापयति—ताच्छीलिके णेऽपि अण्कार्यं भवतीति । एवं प्रकृते यः ताच्छीलिके अर्थं णो विहितः तत्र अण् निमित्तको ङीप् भवतीति स्वांशे चारितार्थ्यमिति दिक् ।

प्रश्नः—“अनुपसर्जस्य” इति इहोत्तरार्थमनुवृत्तमपि न पत्युर्विशेषणम्, किन्तु तदन्तस्य । तेन बहुव्रीहावपि” अस्याः फक्किकायाः आशयः कः इति वद ।

उत्तरम्—सह शब्दो विद्यमानवाची, पूर्वशब्दश्च अवयववाची केवलपतिशब्दस्य विद्यमानावयवत्वं न सम्भवतीति पतिशब्देन तदन्तं गृह्यते । अत एव पतिशब्दान्तस्य गृह्यमाणत्वेन “अनुपसर्जनात्” इति ज्ञापकोक्तरीत्या पतिशब्दान्तस्यैव विशेषणम् । तेन “दृढपत्नी” इत्यादौ बहुव्रीहिसमासेऽपि “विभाषा सपूर्वस्य” इत्यस्य प्रवृत्तिः । “अनुपसर्जनात्” इति च उत्तरार्धमनुवर्तते । तस्य चात्रापि सम्बन्धः । बहवो वृषलपत्न्यो यस्याः इति विग्रहेण आदेशवारणार्थमत्रापि अनुपसर्जनाधिकारस्य फलमायातम् ।

प्रश्नः—अथ वृषलस्य पत्नी इति व्यस्ते कथम्” अस्याः फक्किकायाः आशय उपपादनीयः ।

उत्तरम्—ननु वृषलस्य यज्ञे अधिकाराभावेन “पत्युर्नो यज्ञसंयोगे” इति सूत्रस्य अप्रवृत्तिः । समासाभावेन विद्यमानपूर्वत्वाभावात् “विभाषा सपूर्वस्य” इत्यस्याप्यप्रवृत्तिरिति चेद् ? न । पत्नीव पत्नीत्युपचारात् । तस्य ह्ययमर्थः—यज्ञयुक्तायां द्विजभार्यायां यः पत्नीशब्दो व्युत्पादितः तस्यैव शूद्रस्त्रियामपि अयज्ञसंयुक्तायां पाणिग्रहणादिधर्मपुरस्कारेण गौणया वृत्त्या प्रयोगात् । गङ्गायामिति स्त्रीलिङ्गस्य तीरे प्रयोगवत् प्रकृतेऽपि । यद्वा पत्नीव आचरति इत्याचारक्रियन्तात् कर्तरि क्प् । परं च अस्मिन् पक्षे—“पत्नियौ पतिः” इति ह्यर्थं स्यादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘गजवाचीनागशब्दः स्थौल्यगुणयोगात् अन्यत्र प्रयुक्त उदाहरणम् । सर्पवाची तु दैर्घ्यगुणयोगात् अन्यत्र प्रयुक्तं प्रत्युदाहरणम् अस्याः फक्किकायाः आशय उपपादनीयः ।

उत्तरम्—यादृशं स्थौल्यं गजे वर्तते तादृशमेव स्थौल्यं यदि भार्यायां स्यात्, तदा स्थौल्यगुणयोगात् सम्बन्धाद्धेतोः गजवाची नागशब्दः स्त्रियां प्रयुज्यते । एवं स्थूलगुणविशिष्टा भार्या नागीति कथ्यते । अयमेव च नागीशब्दः उदाहरणम् । सर्पविषये—यादृशं दैर्घ्यं वर्तते; तादृशं दैर्घ्यं यदि कस्यांश्चित् भार्यायां स्यात्, तदा तादृशस्य दैर्घ्यगुणस्य सम्बन्धात् सर्पवाचको नागशब्दो भार्यायां प्रयुज्यते । एवं ‘नागभार्या’ इति प्रत्युदाहरणमिति ।

प्रश्नः—“वोतो गुणवचनात्” इति सूत्रे उत् प्रहस्य ऋि फलं तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु “वोतो गुणवचनात्” इति सूत्रे उत् इति पदाभावेऽपि अत इत्यस्य सम्बन्धेन अकारान्तादेव ङीप् ; इति शुचिशब्दे अकारान्तत्वाभावेन ङीप् न स्यादिति चेद् ? न । “खरुसंयोगोपध्वान्न” इति वार्तिकवैयर्थ्यात् । तथाहि—“वोतो गुणवचनात्” इति सूत्रस्य अकारान्ते यदि प्रवृत्तिः, तदा खरुशब्दे प्रवृत्त्यभावेन निषेधार्थकं वार्तिकमेव व्यर्थम् । न च “कृदिकारादक्किनः” इत्यनेन ङीष् ‘शुचो, शुचिः’ इति रूपद्वयस्य सिद्धिरिति शुचीति प्रकृतसूत्रस्य प्रत्युदाहरणं न सम्भवतीति वाच्यम् । उणादीनामव्युत्पन्नत्वादित्यलम् ।

प्रश्नः—“इन्द्रवरुण” इति सूत्रे ब्रह्मन्शब्दस्य पाठाभावेन ब्रह्माणीति रूपं कथं सिध्यति तदुपपादय ।

उत्तरम्—ब्राह्माणम् आनयति जीवयति इति विग्रहे कर्मणि उपपदे “कर्मण्यण्” इति सूत्रेण अण्प्रत्यये अणन्तत्वाङीप् सति नलोपादिकार्ये च कृते ब्रह्माणीति सिध्यति । अत्र “पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः” इति णत्वम् । न च “एकाजुत्तरपदे णः” इति णत्वं स्यादिति वाच्यम् । अणि सति प्रातिपदिकस्य द्वयच्कत्वात् लुप्तेऽप्यणि लोपस्य स्थानिवत्वात् ।

न च “पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्” इति निषेध इति वाच्यम् । “तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु” इति निषेधात् ।

प्रश्नः—“स्वाङ्गाद्योपसर्जनादसंयोगोपधात्” अत्र स्वाङ्गपदेन कस्य

ग्रहणं स्वाङ्गस्य च लक्षणं किमिति तदुपपादय ।

उत्तरम्—ननु “स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्” इति सूत्रे यदि स्वं च तदङ्गं चेति यौगिकं स्वाङ्गं गृह्येत, तदा सुमुखा शाला इत्यत्रापि स्वाङ्गत्वापत्तिः, द्वाररूपमुखस्य शालाङ्गत्वादिति चेद् ? न । स्वाङ्गं त्रिधा । तथाहि—‘अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्’ इति । अयमर्थः—अद्रवत्वे सति मूर्तिमत्त्वे सति प्राणिस्थत्वे सति विकारजभिन्नत्वमिति सुव्देश, अत्र न, द्रवत्वात् । सुज्ञाना, अमूर्तत्वात् । सुमुखा शाला, अप्राणिस्थत्वात् । सुशोका विकारजत्वात् । द्वितीयलक्षणं हि—‘अतस्थं तत्र दृष्टं च’ तथाह्यर्थः—सम्प्रति प्राणिस्थत्वाभावेऽपि प्राणिनि दृष्टं यत् तदपि स्वाङ्गमिति । सुकेशी सुकेशा वा रथ्या अत्र केशस्य सम्प्रति प्राणिस्थत्वाभावेऽपि प्राणिनि दृष्टत्वात् । तत्र स्वाङ्गत्वेन ङीष्सिद्धिः । तृतीयलक्षणं हि—‘तेन चेतत्तथायुतं’—अयमर्थः—येन अङ्गेन प्राणिरूपं वस्तु यथायुतं तेन तत्सदृशेन अङ्गेन तत् अप्राणिरूपं वस्तु तथा प्राणिवद्युतं—युक्तं; चेद् तदपि अप्राणिनि दृष्टं स्वाङ्गमिति । ‘सुस्तनी, सुस्तना वा प्रतिमा । अत्र प्राणिवत् प्राणिसदृशे स्थितत्वात् स्वाङ्गत्वेन ङीष्सिद्धिरित्यलम् ।

प्रश्नः—“जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्” अत्र जातिपदेन किम् ग्राह्यम्, तस्याः फलं च प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“जातेरस्त्रीविषयात्” इति सूत्रे जातिपदेन त्रिधा जातिर्गृह्यते । तत्र प्रथमलक्षणम्—‘आकृतिग्रहणा जातिरिति । आकृतिः—अवयवसन्निवेशविशेषः । ईदृशाकारो गौस्त्युपदिष्टे पुच्छलाङ्गूलाद्याकृतिदर्शनेन गवादिषु जातिर्गृह्यते, तदाह्यनुगतेऽपि अनुगतमेकाकारेण प्रतीतं यत्संस्थानम्—अवयवसन्निवेशः । तेन व्यङ्ग्या या, सा जातिरित्यर्थः । तथाहि—नद्यादीनां जलसमीपदेशो यत्र यत्र वर्तते; तत्र तट इति बुद्धिर्जायते; इति तटशब्दादपि जातिलक्षणे ङीष् भवति । परं च एतत् लक्षणं वृषलत्वादीनां जातित्वे साधकं न भवति यतः—हस्ताद्यवयवसन्निवेशो यथा ब्राह्मणादीनां वर्तते; तथा शूद्रस्यापि, इति प्रथमलक्षणेन न गतार्थत्वम् । अत उच्यते—‘लिङ्गानां च न सर्वभाक्’ इति । एकस्यां ब्राह्मणादिव्यक्तौ एकवारं कथनात्—उपदेशात्, द्वितीयव्यक्तौ कथनं विनापि जातेर्ज्ञानं सुलभमिति वृषलत्वादीनां सिद्धिः । ननु एताभ्याम् औपगवी कठीत्यादेरसंग्रहो; अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्यत्वाभावात् । सर्वलिङ्गत्वाच्च; इति चेद् ? उच्यते—‘गोत्रं च चरणैः

सह" इति । अपत्यप्रत्ययान्तः चकारात् शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्ये लभते इत्यर्थः । एवं च औपगवी कठात्यादेः सिद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“नृनरयोर्वृद्धिश्च” इत्यत्र नृशब्देनेष्टसिद्धेर्नरग्रहणस्य किं फलं तद्दर्शय ।

उत्तरम्—ननु नारीत्यस्य नृशब्दात् प्रकृतवार्तिकेण आद्यचो वृद्ध्या “क्रन्नेभ्यो ङीप्” इति ङीपा, नारीत्यस्य च “दुयोगादाख्याम्” इति ङीषा च सिद्धौ वार्तिके नरग्रहणं व्यर्थमिति चेद् ? न । नरत्वजातिमात्रप्रतिपादनेच्छायां नारीत्यस्य व्यावृत्त्यर्थत्वेन सार्थक्यात् । न च नरशब्देऽचद्वयस्य सत्वेन कस्य वृद्धिरिति न शङ्कनीयम् । लक्ष्यानुसारादादेरेवाचो वृद्धेः स्वीकारादित्यलम् ।

इति स्त्रीप्रत्ययाः ।

अथ विभक्त्यर्थः ।

प्रश्नः—प्रातिपदिकार्थं निरूप्य लिङ्गग्रहणं सफलम् ।

उत्तरम्—स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकेति पञ्चविधः प्रातिपदिकार्थः इति पक्षे स्वार्थद्रव्यलिङ्गेति त्रिविधं प्रातिपदिकार्थः इति पक्षे च प्रातिपदिकार्थेनैव लिङ्गस्यापि ग्रहणे सिद्धे लिङ्गग्रहणं व्यर्थं सत् ‘नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः’ इति विलक्षणप्रातिपदिकार्थं बोधयति । तथाहि—निपूर्वकयमधातोर्ग्यापकत्वमर्थः, तथा च नियता व्यापिका उपस्थितिर्यस्य स नियतोपस्थितिकः । यस्मिन्प्रातिपदिके उच्चारिते सति यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स प्रातिपदिकार्थः । एवञ्चानियतलिङ्गकेभ्यस्तटादिशब्देभ्यो लिङ्गस्य नियतोपस्थितिकत्वाभावेन प्रातिपदिकार्थपदेनाऽग्रहणात् ततः प्रथमोत्पत्तिरिति तदर्थमावश्यकं लिङ्गग्रहणमिति । ततः तटो, तटमित्यादौ तटादिशब्दानां पुंस्त्वस्त्रीत्वबोधकतत्तत्प्रत्ययसमभिव्याहारात्सकललिङ्गबोधकत्वे ततः कस्यापि लिङ्गस्य नियतोपस्थितिकत्वाभावात्तद्वोध्यलिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थपदेनाऽग्रहणात्प्रथमाऽनुत्पत्त्या तदर्थं लिङ्गग्रहणस्याऽवश्यकत्वमिति यावत् । कृष्णः श्रोः ज्ञानम्, उच्चैः नीचैः इति अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थं इत्यस्योदाहरणम् ।

प्रश्नः—‘द्रोणो व्रीहिः’ अस्य साधुत्वं प्रदर्शनीयम् ।

उत्तरम्—ननु द्रोणादीनां परिमाणमर्थ इति तेभ्यः प्रातिपदिकार्थमात्र एव

प्रथमासिद्धौ परिमाणग्रहणं व्यर्थमिति चेद् ? न । परिमाणग्रहणभावे प्रातिपदिकार्थं प्रथमाविधानात् प्रातिपदिकार्थस्य प्रत्ययार्थत्वात्तत्र द्रोणस्याभेदान्वयः । प्रत्ययार्थस्य च तस्योक्तसम्बन्धेन ब्रीहावन्वयः । तथा च द्रोणाभिन्नो ब्रीहिरिति बोधः स्यात् । परमेतद्वाधितम् 'नामार्थद्वयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति व्युत्पत्तिविरोधात् । तस्मात्परिमाणग्रहणमावश्यकम् । कृते हि परिमाणग्रहणे द्रोणशब्दात् प्रथमाविधानेन परिमाणस्य प्रत्ययार्थत्वात् तत्र प्रकृत्यर्थस्य द्रोणस्याभेदेन—अर्थादितरसम्बन्धानवच्छिन्नविशेषणविशेष्यभावसम्बन्धेनान्वयः । प्रत्ययार्थस्य परिमाणस्य परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन ब्रीहावन्वयः । एवञ्च द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो ब्रीहिरिति फलतीति दिक् ।

प्रश्नः—एकः, द्वौ, बहवः इत्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमया कुतो नेष्टसिद्धिरिति युक्तियुक्तमुच्यताम् ।

उत्तरम्—ननु पञ्चकं प्रातिपदिकार्थ इतिनये बहुशब्दस्य संख्याया अपि प्रादिपदिकार्थत्वात्तत्र बहुशब्दात्प्रथमासिद्धौ सूत्रे वचनग्रहणं व्यर्थमिति चेद् ? न, 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायविरोधेन बहुशब्दात्प्रातिपदिकार्थं प्रथमाऽप्राप्त्या तदर्थमिह वचनग्रहणस्यावश्यकत्वेन सार्थक्यात् । बह्वर्थं विभक्तिर्विधेया स चार्थः प्रकृत्यैव प्रतिपादित इति तस्याभिधानाय पुनर्विभक्तिर्नावश्यकः । यथा—घटोऽस्ति कलशः इति न भवति, इत्यभिप्रायकः "उक्तार्थानामप्रयोगः" इति न्यायविरोधो दुर्वार इति वचनग्रहणमावश्यकम् । न च वचनग्रहणसत्वेऽपि उक्तन्यायविरोधो दुर्वार इति वाच्यम् । वचनग्रहणसामर्थ्यादुक्तन्यायबाधेन विरोधपरिहारात् । न च एकद्विशब्दाद्विवचनबहुवचनान्यपि स्युरिति वाच्यम् । अनन्वितार्थकविभक्तिकल्पनापेक्षयाऽनुवादकविभक्तेरेव न्याय्यत्वादिति दिक् ।

प्रश्नः—"कर्तुरोऽपि ततमं कर्म" इति सूत्रे कर्तुरित्यस्याभावे काऽनुपपत्तिरिति तत्स्पष्टं सोदाहरणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु कारकाधिकाराद्व्यापारलाभात्तेन कर्तुराक्षेपात् कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलवत्त्वप्रकारिकेच्छानिरूपितविषयताऽऽश्रयः कर्मत्वार्थं 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इत्यादौ देवदत्तकर्तृवृत्तिव्यापारः उत्तरदेशसंयोगानुकूलरूपः, तत्प्रयोज्यं फलमुत्तरदेशसंयोगरूपं तादृशफलवत्त्वप्रकारिकेच्छा मद्वृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलाऽऽश्रयो ग्रामो भवत्वित्याकारिका तादृशेच्छानिरूपिता विषयता ग्रामनिष्ठा तादृशविषयता-

ऽऽश्रयस्य ग्रामस्य कर्मत्वे सिद्धे कर्तुर्ग्रहणं व्यर्थमिति चेद् ? न । तस्य प्रकृतधातु-
पात्तव्यापाराश्रयकर्तुर्ग्रहणेन सार्थक्यात् । अन्यथा माषेषु प्रसक्तमद्वं माषनाशो मा
भूदित्यन्यत्र बध्नातीत्यर्थके 'माषेष्वद्वं बध्नाति' इति प्रयोगे माषभक्षणकर्तुर्ग्रहणस्य
मद्वृत्तिव्यापारप्रयोज्यगलबिलाधःसंयोगरूपफलाश्रयतया माषा भवन्तिवतीच्छा-
यास्सत्त्वादधिकरणसंज्ञाभाधित्वा माषाणां कर्मत्वापत्तेः । प्रकृतधातुपात्तव्यापा-
राश्रयकर्तुर्ग्रहणे तु नोक्तदोषः । अश्वस्य प्रकृतधातुपात्तव्यापाराऽश्रयत्वाऽभावे-
नाऽग्रहणात् ।

प्रश्नः—“कर्तुरीप्सिततमम्” इति सूत्रे तमग्रहणफलं कर्मग्रहण-
प्रयोजनञ्च साधु प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“कर्तुरीप्सिततमं कर्म” इत्यत्र ‘अवयवद्वारा समुदायस्य प्रश्नः’
अर्थादीप्सिततमग्रहणं किमर्थम् ? ‘कर्तुरुद्देश्यं कर्म’ इत्येव सूत्रमस्तु । तथाच—
कर्तुः यद् उद्देश्यं तत्र कर्मसंज्ञा स्यादित्यर्थेन ‘हरिं भजति’ इत्यत्र हरिः फलाश्र-
यत्वेनोद्देश्यमस्तीति तत्र कर्मसंज्ञा सिद्धा भवति । अथ च कृतभोजनस्य पुरुष-
स्य पयो लोभेन पुनरपि भोजने प्रवृत्तौ सत्यां ‘पयसा ओदनं भुङ्क्ते’ इति प्रत्युदाह-
रणेऽपि लोभाद्धेतोः पयसोऽप्युद्देश्यत्वेन तस्य कर्मत्वापत्तिः । ईप्सिततमग्रहण-
सत्त्वे तु पयसः कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यगलबिलाधःसंयोगरूपफलाश्रयत्वाभावान्नो-
क्तापत्तिः । तथाहि—‘पयसा ओदनं भुङ्क्ते’ इत्यत्र कर्ता देवदत्तः, तद्वृत्तिव्या-
पारो गलबिलाधःसंयोगानुकूलरूपस्तत्प्रयोज्यं फलं गलबिलाधःसंयोगरूपं तदा-
श्रयत्वप्रकारिकेच्छा—ओदनो गलबिलाधःसंयोगवान् भवतु इत्याकारिका, न तु
पयो गलबिलाधःसंयोगवद् भवतु इत्याकारिका, एतादृशेच्छोद्देश्यताश्रय ओ-
दनो, न तु पयः, इति ओदनस्यैव कर्मसंज्ञा भवति, न तु पयस इति दिक् ।

कर्मग्रहणप्रयोजनम्—यद्यपि “अधिशीङ्स्थासां कर्म” इत्यतः कर्मपदा-
नुवृत्तिः सम्भवति, तथापि तत्राधार इत्यस्यानुवृत्तरेत्रापि तत्सम्बद्धस्यैव कर्मपद-
स्यानुवृत्तिः स्यात् सा मा भूत् इति कर्मग्रहणं क्रियते । अन्यथा ‘गेहं प्रविशति’
इत्यत्रैव कर्मसंज्ञा स्यात् ‘हरिं भजति’ इत्यादौ न स्यादिति ।

प्रश्नः—“अकथितञ्च” इति सूत्रस्य सार्थकसमन्वयमुदाहरणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—गां दोग्धि पयः, गोः सकाशात् पयः क्षारयतीत्यर्थः । अत्र क्षरणे
गोरपादानत्वात् प्राप्तां पक्ष्मीं बाधित्वा ‘अकथितञ्च’ इति कर्मत्वे द्वितीया ।

बलिं याचते वसुधाम्—बलिकर्तृकं वसुधाकर्मकं दानं प्रार्थयते इत्यर्थः । अत्र कर्तुः कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया । यद्वा बलिसम्बन्धिवसुधाकर्मकं यद्दानं तत्प्रार्थयते इत्यर्थः । गगाणां शतं दण्डयति । ताडनादिना गगंभ्यः सुवर्णशतं गृह्णातीत्यर्थः । ग्रहणं हि—परकीयद्रव्यस्य परस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं स्वोकरणम् । तत्र स्वत्वविश्लेषे अपादानत्वं प्राप्तम् । तद् अनादृत्य कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया इत्यादि ।

प्रश्नः—‘अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा’ अत्र किम्प्रमाणं तदुपपादय ।

उत्तरम्—‘अकथितञ्च’ इत्यनेन या संज्ञा साऽर्थनिबन्धना—अर्थनिमित्तिका, न तु स्वरूपाश्रया—स्वरूपनिमित्तिकेति यावत् । नचैतसूत्रविहितकर्मसंज्ञाया अर्थनिमित्तकत्वे किम्प्रमाणमिति वाच्यम् । तद्वाजसूत्रस्थभाष्यकैयट्योरेव प्रमाणत्वात् । तथाहि—तत्र ‘अहमपीदमचोद्यं चोद्ये’ इत्युक्तम् । असौ अस्मान्मामचोद्यं चोदयति इति तदर्थः । तत्र पृच्छिपर्षायस्य चुदेरपि द्विकर्मत्वं हृदयते । इति तदेवात्र प्रमाणम् । अन्यथा—स्वरूपनिमित्तकत्वाभावे उक्तभाष्यकैयटी व्याकुप्येतामिति दिक् ।

प्रश्नः—‘गतिबुद्धिसूत्रस्य सार्थसमन्वयमुदाहरणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—‘गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यादिति सूत्रार्थः । ‘शत्रून् गमयत्स्वर्गम्’ इति गत्यर्थकस्योदाहरणम् । शत्रवः (युद्धे-मृताः) स्वर्गमगच्छन् । हरिस्तान् प्रेरिरदिति हरिः शत्रून्स्वर्गमगमयत् । अत्र गमेरप्यन्तावस्थायां शत्रवो गमनक्रियां प्रति कर्तारः, स्वर्गस्तु कर्म । प्यन्तावस्थायान्तु णिज्वाचयां प्रयोजकव्यापारात्मिकां शस्त्रवातक्रियां प्रति वातयिता हरिः कर्ता । शत्रूणान्तु “गतिबुद्धिः” इति सूत्रेण कर्मत्वम् । तेन णिज्वाचये शत्रु-शब्दात् द्वितीया । स्वर्गकर्मकं शत्रुनिष्ठं यद्गमनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिरस्तु इति वाक्यार्थः । स्वे-स्वकीया, वेदार्थमबिबुस्तान् श्रीहरिर्वेदार्थमवेदयत् । तथा—देवा अमृतम् आशनन्, श्रीहरिस्तान् अमृतम् आशयत् । विधिः वेदमध्यैत, तं ब्रह्माणं श्रीहरिः वेदमध्यापयत्-अपाठयत् । सलिले पृथिवी आस्ते, तां यो हरिराशयत्-स्थापयति स्म । स श्रीहरिः मे गतिरिति यावत् ।

प्रश्नः—‘गतिबुद्धी’ इति सूत्रं विध्यर्थमुत निषमार्थमिति प्रदर्शय ।

उत्तरम्—‘प्यन्ते’ उक्तदेशसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारः, इत्याद्यर्थे णिजर्थनिरूपितकर्मत्वं गम्यात्त्वर्थनिरूपितकर्तृवञ्च प्राप्तम् इति परत्वात् कर्तृसंज्ञैव

भवति । प्रथमव्यापाराश्रयत्वेन कर्तृसंज्ञा, द्वितीयव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वेन कर्म-
संज्ञा च प्राप्नोति । अन्तरङ्गाऽपि कर्तृसंज्ञा, अथ च यावत् 'गमयति देवदत्तं यज्ञदत्तः'
इत्यादौ देवदत्तस्य कर्तृसंज्ञा न जायते, तावत् हेतुसंज्ञैव न स्यात् । यतः कर्तृप्रयो-
जकस्य हेतुसंज्ञा भवति, अथ च हेतुसंज्ञां विना णिजपि न स्यादिति । कर्मसंज्ञाया-
मुपजीव्यतापि कर्तृसंज्ञा । एवञ्चोक्तहेतुभिर्देवदत्तस्य कर्तृसंज्ञैव सिद्धा भवतीति "ग-
तिबुद्धिः" इत्यादि सूत्रं विध्यर्थमिति मनोरमाकारादौनां मतम् ।

भाष्यकारस्त्वाह—प्रयोजकव्यापारे, शब्दतः प्राधान्यमथ चाग्नानधीनत्वलक्ष-
णार्थप्राधान्यश्च वर्तते, इति प्रधानकार्यं बलवत्, इति न्यायेन प्रधानाश्रयकर्मसंज्ञैव
देवदत्तस्य सिद्धेति "कर्तुः" इत्यनेनैव कर्मत्वे सिद्धे "गतिः" इत्यादि सूत्रं जिज्ञार्थव्यापा-
रप्रयोज्यफलाश्रयस्य कर्मसंज्ञा चेत्तर्हि गत्याद्यर्थानामेव कर्तुरिति नियमयति । तेन
'पाचयति देवदत्तेन' इत्यादौ कर्मसंज्ञा न भवतीति फलमित्यलम् ।

प्रश्नः—येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न संभवति तेऽत्राकर्मकाः,
नत्वविवक्षितकर्माणोऽपि, इत्यत्र प्रमाणं कौमुदीकाररीत्या प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु "गतिबुद्धिः" इति सूत्रे अकर्मपदस्य न विद्यते कर्म येषामि-
त्यर्थे सकर्मकाणामपि कर्मणोऽविवक्षयाऽकर्मत्वात् देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ देवदत्त-
स्यापि कर्मत्वापत्तिरित्यत आह—येषां देशकालादि इति । अयम्भावः—नियम-
स्य सजातीयापेक्षन्वात् "गतिबुद्धिः" इति सूत्रस्य सकर्मकधातुप्रकृतिकणिजार्थव्या-
पारप्रयोज्यफलाश्रयाणां कर्मत्वं चेत्तर्हि गत्यर्थानामेवेति नियमार्थत्वेन 'आसयत्
सलिले पृथिवीम्' इत्यादौ पूर्वसूत्रेण कर्मत्वसिद्धौ सूत्रेऽकर्मकपदस्य सामर्थ्याद्देश-
कालादिभिन्नकर्माभाववतो ग्रहणम् । तेन देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ देशकालाद्यतिरि-
क्तस्यौदनादिरूपकर्मणः सत्त्वेन तदविवक्षणेऽप्यकर्मकपदेनाग्रहणमिति नोक्तदोषः ।

प्रश्नः—"अभिनिविशश्च" इत्यनेन 'पापेऽभिनिवेशः' इत्यत्र कर्म-
त्वं कथञ्च तद्युक्तियुक्तं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—"परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्" इति सूत्रादन्यतरस्याम् ग्रह-
णमत्रानुवर्तते । ननु "परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्" "आधारोऽधिकरणम्"
"अभिशीङ्स्यासां कर्म" "अभिनिविशश्च" इति सूत्रक्रमः । तत्र "अभिनिविशश्च"
इत्यत्र कथमन्यतरस्याग्रहणानुवृत्तिः । "आधारोऽधिकरणम्" "अभिशीङ्स्यासां
कर्म" इत्यत्र च तदनुवर्तनाभावात् । इति चेद् ? न । मण्डूक्यलुप्त्या तदनुवृत्तेः स्वी-

कारात् । अन्यतरस्याम् इत्यस्य व्यवस्थितविभाषात्वञ्च स्वीकृत्य क्वचित् आधारस्य कर्मसंज्ञा न भवतीति 'पापेऽभिनिवेशः' इत्यत्र कर्मत्वाभावः । प्रमाणञ्च—“एष्वर्थे-
ष्वभिनिविष्टानाम्” इति भाष्यम् ।

परे तु—उक्तभाष्यप्रयोगेण यत्र 'अभिनिविश' इत्यनुपूर्वार्थो विकारो न भवति, तत्रैव कर्मसंज्ञा भवति । 'पापेऽभिनिवेशः' इत्यत्र इकारस्य एकाररूपविकारो जातः, इति तत्र कर्मसंज्ञा न भवेदित्यनुवृत्त्यादिक्लेशो वृथैवेत्याहुरिति दिक् ।

प्रश्नः—“अनुर्लक्षणे” इत्यस्य कथं गत्युपसर्गसंज्ञाया अपवाद-
त्वम् । कथञ्च परापि “हेतो” इति तृतीयाऽनेन बाध्यते, इति युक्ति-
युक्तं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु जपमनु प्रावर्षदित्यत्र वृष्टिं प्रति अनोर्योगाभावेन क्रियायो-
गाभावादेतयोः संज्ञयोः प्राप्त्यभावात् कथं तदपवादत्वमस्याः संज्ञाया इति चेद् ?
उच्यते—गम्यमाननिशमनक्रियापेक्ष्य तयोः प्राप्तिस्तीति सम्भावनामात्रेण मूलस्य
निर्बाधत्वात् । न चैवं कर्मत्वादेव द्वितीयासिद्धौ किमनया संज्ञयेति वाच्यम् ।
जपस्य निशमनप्रयुक्तेहेतुत्वाख्यसम्बन्धविवक्षया कर्मत्वाभावेन तृतीयायां प्राप्तायां
तदारम्भात् ।

एवञ्च “अनुर्लक्षणे” इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां “कर्मप्रवचनीययुक्ते
द्वितीया” इति द्वितीयायां ‘जपमनु’ इति वाक्यघटकजपमित्यस्य सिद्धिः । लक्ष-
णत्वञ्च—ज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम् । लक्ष्यत्वन्तु ज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वम् ।
तथाच जपस्य वर्षाज्ञानजनकज्ञानविषयीभूतत्वाल्लक्षणत्वेन तस्मिन्ननुद्योत्ये सति
अनोः कर्मप्रवचनीयत्वेन तद्योगे लक्षणवाचकाज्जपशब्दाद् द्वितीया । जपाऽभिन्न-
हेतुज्ञानजन्यज्ञानविषयं वर्णनमिति यावत् ।

लक्षणे—कर्मप्रवचनीयसंज्ञाया अवकाशः, यो न हेतुः ‘वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्’
इति, हेतुतृतीयाया अवकाशो ‘धनेन कुलम्’ इत्यादि । ‘जपमनु प्रावर्णात्’ इत्यत्र
तु हेतुभूते लक्षणे परत्वात्तृतीया स्यात्ताम्बाधित्वा “अनुर्लक्षणे” इति पुनः संज्ञा-
विधानसामर्थ्याद्वितीयैव स्यादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘सर्पिषोऽपि स्यादिति फक्किकां सम्यगुपपादय ।

उत्तरम्—‘सर्पिषोऽपि स्यात्’ इत्यत्र “अपिः पदार्थसम्भावन” इत्यादि
सूत्रेण अपिशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानेनोप-संज्ञाया बाधाद् “उपसर्गप्रादु-

भ्याम्' इति स्यादित्यस्य सकारस्य षत्वन्नेत्यर्थः । पदस्याप्रयुज्यमानपदान्तर-
स्यार्थः पदार्थः, तद्योतकोऽपि कर्मप्रवचनीयसंज्ञकः । एवञ्चाप्रयुज्यमानस्य बिन्दुरि-
त्यादेः पदस्यार्थोऽपिद्योत्यः । “उपसंवादाशङ्कयोश्च” इति सूत्रस्य भाष्यपठितेन “उ-
पसंवादाशङ्कयोलिङ्” इति वार्तिकेन संभावनायां लिङ् । तत्राशङ्कोत्प्रेक्षा संभाव-
नापि उत्कटकोटिकाऽशङ्कैवेति भावः । तस्याः सम्भावनाया विषयीभूते भवने कर्तृ-
दौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यस्वरूपसंबन्धोऽपिद्योत्यः, बिन्दुना कर्तृत्वादुक्तसंबन्धेन स्या-
त्पदवाच्यक्रियायामन्वीयत इत्यर्थस्तदाह (मूले)—अपि शब्दबलेनेत्यादि ।
एवञ्च संप्रिवयवबिन्दुदौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यवती तत्कर्तृका सम्भावनेति बोधः ।

नन्वेवं कर्मप्रवचनीयसंज्ञकापिद्योत्येऽर्थे सर्पिषोऽन्वयेन तस्य कर्मप्रवचनीययुक्त-
त्वात् द्वितीया स्यादिति ? तन्न । सर्पिषो बिन्दुना योगात् नत्वपिनेत्युक्तत्वात् । न
च परम्परया तेनापि योग एवेति वाच्यम् । कर्मप्रवचनीयद्योत्योक्तसम्बन्धेनापिश-
ब्देऽन्वयाभावात् ।

प्रश्नः—“साधकतमं करणम्” इत्यस्मिन् सूत्रे तमब्रह्मणाभावे
‘गङ्गायां घोषः’ इत्यत्र कथं दोष आपादितः, कथं च तस्य निरासः
कृतः, तदुपपादय ।

उत्तरम्—करणमिति महासंज्ञया ‘क्रियतेऽनेन, इत्यन्वर्थबोधनेन क्रियासि-
द्धिसाधकस्यैव करणसंज्ञासिद्धौ साधकपदमेव साधकतमार्थं भविष्यतीति किं तमब्र-
ह्मणेनेति प्रष्टुराशयः । उक्तरीत्या व्यर्थं सत्तमब्रह्मणं ‘अस्मिन्कारकाधिकारे प्रक-
र्षविवक्षा नाश्रीयत, इति ज्ञापयति । तेन च ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यत्र सप्तमी सिध्य-
ति । अन्यथा तुल्यन्यायेन ‘अधिकरणम्’ इत्यपि महासंज्ञया ‘अधिक्रियते ऽस्मिन्,
इत्यन्वर्थत्वेनैवाधारलाभे आधारपदमाधारतमार्थं भविष्यति । तथा सर्वावयवव्या-
प्यो य आधारस्तस्यैवाधिकरणसंज्ञायां तिलेषु तैलम्, दधनि सर्पिः, सर्वस्मिन्ना-
त्मास्ति, इत्यादावेवाधिकरणसंज्ञा स्यान्नतु ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादावपि । अत-
स्तद्विशेषवारणार्थमपि तमब्रह्मणमिति फलम् ।

प्रश्नः—“अनुलक्षणे” “हेतौ” “स्पृहेरीप्सितः” । इमानि सूत्राणि
सोदाहरणानि व्याख्येयानि ।

उत्तरम्—लक्षणे—लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धे, द्योत्ये ऽनुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः
स्यात् । पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षेत् इत्युदाहरणम् । (कदा पर्जन्योऽवर्षेदिति प्रश्ने

उत्तरमिदम्) अत्र वृष्टिकाल उपदेश्यः (स च दुर्ज्ञानत्वात् शाखाग्रं प्रति द्विकल-
श्चन्द्र इतिवत् प्रज्ञानं किञ्चिदवलम्ब्यैव ज्ञाप्यः) जपः प्रज्ञानम् । हेतुभूतजपोप-
लक्षणम् वर्षहेतुभूतवर्षणजपोत्तरकाले पञ्जन्यः प्रावर्षत् । तत्र लक्षणत्वं हेतुत्वञ्चेति
द्वयं तृतीयार्थः, तदुभयमनुना द्योत्यते । यद्यप्यत्र “लक्षणेत्थम्भूत” इत्यादिना
सिद्धेः पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् परापि “हेतौ” इति तृतीयाऽनेन बाध्यते ।

हेतौ-हेत्वर्थे, तृतीया स्यादिति सूत्रार्थः । ननु हेतोरपि करणत्वादेव तृतीयासिद्धेः
किमर्थमिदमिति चेद्, न । हेतुत्वकरणत्वयोर्भेदात् । तथाहि-द्रव्यं गुणं क्रियाञ्च प्रति-
यज्जनकं तत्र सर्वत्र हेतुर्वर्तते, किञ्च द्वारीभूतव्यापारवति तद्रहिते च सः क्रियाज-
नकमात्रवृत्ति व्यापारवृत्ति च यत्तदेव करणम् । दण्डेन घटः इत्युदाहरणे घटं प्रति
दण्डो हेतुः, दण्डे व्यापारसत्त्वेऽपि क्रियाजनकत्वाभावात् करणत्वं न । पुण्येन दृष्टो
हरिरित्युदाहरणे हरिदर्शनं प्रति पुण्यस्य हेतुत्वम्, पुण्यस्य हरिदर्शनजनकत्वेऽपि
निर्व्यापारत्वान्न करणत्वम् । अत्र हेतुपदेन फलमपि गृह्यते, तेन अध्ययनेन वसति
इत्यत्र वासफलमध्ययनेऽपि विवक्ष्यते अतोऽध्ययनेहेतुत्वात् तृतीया सिद्धा ।

स्पृहेरीप्सितः—स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात् । ‘पुष्पेभ्यः स्पृह-
यति’ इत्युदाहरणम् । यदा तु ईप्सितत्वमात्रस्य विवक्षा; न तु प्रकर्षस्य, तदा
परत्वात् कर्मसंज्ञायां ‘पुष्पाणि स्पृहयति’ इत्यपि भवति ।

प्रश्नः—अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिरिति पंक्तिर्याख्येया ।

उत्तरम्—ननु हरिर्भक्तिमभिलषतीत्यत्रापि भक्तेः प्रीतिविषयत्वात् सम्प्र-
दानत्वं स्यादत आह—अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिरिति समवायेन प्रीत्याश्रयापे-
क्षया यदन्यत् तत्कर्तृकाभिलाषो रुच्चात्वर्थः । प्रीत्याश्रयकर्तृकः किञ्चिद्विषयक
इच्छाविशेषोऽभिलाषः । तथाचाभिलषतेः रुच्यर्थकत्वाभावान्न तद्योगे सम्प्रदान-
त्वम् । उदाहरणे च प्रीत्याश्रयो हरिः तदपेक्षया यदन्यत् भक्तिः तत्कर्तृकैकप्रीति-
रिति रुच्यर्थयोगः । ननुदाहरणे भक्तेः सम्प्रदानत्वं कुतो न स्यात् । विषयतास-
म्बन्धेन भक्तेरपि प्रीत्याश्रयत्वादित्यत आह—हरिनिष्ठेत्यादि । हरेरेव समवाय-
सम्बन्धेन प्रीत्याश्रयतया प्रीयमाणत्वात् भक्तेः कर्त्र्या उक्तरीत्या प्रीयमाणत्वाभा-
वाच्च न सम्प्रदानत्वमिति ।

प्रश्नः—वने वपवसति, नदीमन्वसिता सेना, क्रोशं कुटिला नदी,
शताय परिक्रीताः, आमुक्तेः संसारः, शतस्य दीव्यति, एषु विशेष-

भक्तिविधायकानि प्रदर्श्य 'सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये' इति सूत्रं सोद-
हरणं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—घने उपवसति 'उपान्वध्याङ्वसः' इति सूत्रेण प्राप्तस्य वसेरा-
धारस्य कर्मत्वस्य 'अभुक्त्यर्थस्य न' इति वार्तिकेन प्रतिषेधात् आधारसप्तम्येव ।
नदीमन्ववसितेति—'तृतीयायें, इति सूत्रेणानोः कर्मप्रवचनीयत्वे तद्योगे नदीमि-
त्यत्र 'कर्मप्रवचीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया । 'क्रोशं कुटिला नदी' इत्यत्र
'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति सूत्रेणाध्वन्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । शताय परि-
क्रीतः "परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्" इति सूत्रेण छवर्णादियत्किञ्चिद्द्रव्यश-
तस्य परिक्रयणे साधकतमस्य सम्प्रदानत्वे चतुर्थी । आमुक्तेरिति "आङ्मर्यादा-
वचने" इत्याहुः कर्मप्रवचनीयत्वे तद्योगे 'पञ्चम्यपाङ्परिमिः' इति पञ्चमी । शतस्य
दीव्यतीत्यत्र "दिवस्तदर्थस्य" इति कर्मणि षष्ठी । सप्तमीपञ्चम्याविति—अत्र
कारकशब्दः कर्तृत्वादिशक्तिपरः न तु कर्त्रादिपरः । कारकयोर्मध्ये कारकमध्ये तस्मिन्
कारकमध्ये । शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताम्यामेते स्तः इति सूत्रार्थः । अद्यभु-
क्त्वाऽयं दृष्टे द्रव्यहाद्वा भोक्ता । यद्यप्यत्र कर्ता एक एव, तथापि कर्तृपदेन कर्तृशक्तिगृह्य-
ते, तस्याश्च कालभेदेन भिन्नत्वात् कारकमध्यत्वं निर्वाहमत एव चात्र सूत्रे कारकपदेन
शक्तेर्दृष्टमिति । इहत्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्येत् कर्तृत्वकर्मत्वरूपशक्त्यो-
र्मध्येऽयं देशः । अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविध्येते "तदस्मिन्नधिकम्" इति
"यस्मादधिकम्" इति च सूत्रनिर्देशात् लोके लोकाद्वा अधिको हरिः ।

प्रश्नः—बहिर्योगे पञ्चमीत्यत्र किं प्रमाणं तत् प्रदर्श्य "कर्तृकर्म-
णोः कृति" इति सूत्रे कृतिग्रहणं सम्यक् प्रतिक्षिप्य तत्प्रयोजनं साधु
समर्थयताम् ।

उत्तरम्—वर्जनार्थयोरपयर्थोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तयोर्योगे "पञ्चम्यपाङ्-
परिमिः" इति सूत्रेण पञ्चम्येव भविष्यतीति तयोः साहचर्येणाञ्चूत्तरपदयोगेऽपि
पञ्चम्या एव सिद्धत्वेन पञ्चम्यन्तेनासमासे सिद्धे "अपपरिवहिः" इति सूत्रे पञ्चमी-
पदं व्यर्थं सत् बहिर्योगे पञ्चमी भवतीति ज्ञापयति । तेन ग्रामाद्बहिरिति सिद्धम् ।

कृतपूर्विकटमिति—

उत्तरम्—क्रियाजनकत्वं कारकत्वमिति सिद्धान्तेन "कर्तृकर्मणोः कृति"
इति सूत्रे कर्तृकर्मणां कारकाभ्यां क्रियाया आधेपो भवति । क्रिया च धातुवा-

च्या धाताश्च तिङ्ः कृतश्चेति द्विधा प्रत्ययः, तत्र तिङ्योगे “न लोक्” इति कर्मणि षष्ठ्या निषेधेन कृद्योग एव कर्मणि षष्ठौ भविष्यतीति कृतिप्रहणमर्थमेव, तदेव व्यर्थं सत् यत्र कृदन्तमात्रशक्तिप्रहयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वं तत्रैव कर्मणि षष्ठौ स्यात् । यत्र तु तद्धितान्तप्रयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वं स्यात्तत्र माभूदिति ज्ञापयति । एवं च ‘ओदनस्य पाचक’ इत्यादौ कृदन्तमात्रप्रयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वं विधत्ते इति तत्र षष्ठौ लिप्यति । कृतपूर्वी कटमित्यत्र तु तद्धितान्तप्रयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वमिति षष्ठौ न भवति । केवलस्य कृतेति पदस्य योगे कर्मण उक्तत्वेन कृदन्तमात्रप्रयोज्यक्रियानिरूपितं कर्मत्वन्न संभवतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘अधीति व्याकरणे’ अत्र सप्तमी केन सूत्रेण तदुपपादय ।

उत्तरम्—“क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्” इति वार्तिकेन । सप्तमी । तथाहि—इन्द्रप्रकृतेः क्तान्तस्य कर्मणि सप्तमीति तदर्थः । तेनाधीती व्याकरणे इत्यत्र सप्तमी । कृतपूर्वी कटमित्यत्र न सप्तमी । क्तान्तस्येन्द्रप्रकृतित्वाभावात् अत्र न कर्मणि क्तः, किन्तु भावे; अन्यथा क्तप्रत्ययेन कर्मण उक्तत्वात्तत्र सप्तम्यनापत्तेः । अधि-पूर्वकादिहो भावे क्ते तत् “इष्टादिभ्यश्च” इति कर्त्तरि इनौ ततो गुणभूतक्रियया सम्बध्यमानव्याकरणरूपकर्मण सप्तम्योक्तप्रयोगोपपत्तिरित्यलम् ।

इति विभक्त्यर्थः ।

अथाव्ययीभावसमासः ।

प्रश्नः—“भूतपूर्वं चरट्” इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपात इति ग्रन्थमुपपाद्य ‘अधिहरि’ इति प्रयोगं साधय ।

ननु पूर्वं भूत इति विग्रहे सुपेति समासे सुपो लुकि सुबन्तं सुबन्तेन समस्यते इति समासशास्त्रे सुबन्तं प्रथमानिर्दिष्टम् सुबन्तत्वञ्च द्वयोरप्यविशिष्टम् । ततश्च “प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्” इति उपसर्जनत्वस्य द्वयोरप्यविशिष्टत्वात् “उपसर्जनं पूर्वम्” इत्यन्ततरस्य पूर्वनिपाते विनिगमनाविरहात् पर्यायेण द्वयोरपि पूर्वनिपातः स्यादिति चेद्, न । “भूतपूर्वं चरट्” इति निर्देशात् भूतशब्दस्यैव पूर्वनिपातो न तु पूर्वशब्दस्येति दिक् ।

अधिहरि—हरौ इति लौकिकविग्रहवाक्ये हरि ङि अधि इत्यलौकिक-विग्रहवाक्ये “अव्ययं विभक्ति” इत्यादिना विभक्त्यर्थे अव्ययीभावसमासे “क्ल-

तद्धित” इति प्रातिपदिकत्वे “सुपो धातु” इति विभक्तेर्लुकि समासविधायकशास्त्रेऽव्ययमित्यस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वादधीत्यव्ययस्य “प्रथमानिर्दिष्टम्” इत्युपसर्जनसंज्ञायां पूर्वनिपाते “अव्ययीभावश्च” इत्यव्ययसंज्ञायाम् अधिहरीति समुदायादुत्पन्नस्य स्युः “अव्ययादाप्सुपः” इति लुकि ‘अधिहरि’ इति सिध्यति ।

प्रश्नः—अधिगोपमिति प्रसाध्य विभाषाधिकारस्य सम्यग् फलं प्रदर्शय—

उत्तरम्—गोपायतीति विग्रहे गुपूधातोः विच् “आयादय आधेधातुके वा” इत्यायप्रत्ययः “लोपो व्योर्वलि” इति यलोपः “वेरपृक्तस्य” इति वकारलोपः । तदेवं गोपाशब्दः आकारान्तः गाः पातीतिविग्रहे पातेर्विचि उपपदसमासे च गोपाशब्दः । गोपि इति सप्तम्यर्थे “अव्ययं विभक्ति” इत्यादिना विभक्त्यर्थे समासे सुब्लुकि “अव्ययीभावश्च” इति समासस्य नपुंसकत्वे “इस्यो नपुंसके” इति ह्रस्वे समासादुत्पन्नस्य सोः स्थाने “नाव्ययीभावात्” इत्यमि “अभि पूर्वः” इति पूर्वरूपे ‘अधिगोपम्’ इति निष्पद्यते ।

उत्तरम्—“विभाषा” अधिकारसूत्रमिदम् । ननु एकार्थीभावे समासस्य व्यपेक्षायां वाक्यस्य च सिद्धौ सूत्रमिदं व्यर्थमिति चेद् ? न । लक्षणैकवक्षुष्कान् प्रति क्व एकार्थीभावो नित्यः, क पाक्षिकः, क नास्तीत्यर्थबोधनार्थं “विभाषा” इति सूत्रस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

ननु प्रागेव “विभाषा” अधिकारस्य कर्तुमुचितत्वादत्रैतत्करणसामर्थ्यादितः पूर्वेषां नित्यत्वमेवेत्यवगम्यते । नचैवं “सुप् सुपा” इत्यस्याऽपीतः पूर्वत्वान्नित्यत्वाऽपत्तिरिति वाच्यम् । तथा सति अनेनैव सिद्धे “अव्ययं विभक्ति” इत्यादिना समासविधानस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।

प्रश्नः—आयतीगवम्, परोक्षम्, इमे शंकासमाधानपूर्वकं साधनीये ।

उत्तरम्—आयतीगवम् आयत्यो गावो यस्मिन् काले इति विग्रहे आयतीशब्दस्य गोशब्देन सह “तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च” इति समासः तिष्ठद्गवादीनां समुदायानामेव निपातनात् आयतीशब्दस्य पुंवद्भावाभावः, समासान्तष्टच् प्रत्ययश्च, षच आवादेशः । तेन आयतीगवमिति साधु ।

परोक्षम्—अक्ष्णः परमिति विग्रहे परमित्यस्याक्षिशब्देन सह समासान्त-

विधानसामर्थ्यादव्ययीभावसमासे “प्रतिपरसमनुभ्योऽक्षः” इति गणसूत्रेण समासान्ते टचि सुब्लुकि “परोक्षे लिट्” इति निपातनात् परशब्दस्य ओकारादेशे पररूपे च कृते तस्मात् यथायथं सुप अम्भावे परोक्षमिति निष्पन्नम् ।

ननु परोक्षाक्रिया इति कथमिति चेद् ? उच्यते । अक्षः परमिति लौकिकविग्रहे ‘अक्षि ङस् परम्’ इत्यलौकिकविग्रहे च “अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः” इति शरदादिगणे पाठात् समासान्तविधानात् अनवग्रथस्यापि परशब्दस्य समासे टचि सुब्लुकि परशब्दस्य पूर्वनिपाते “परोक्षे लिट्” इति निपातनात् परशब्दस्य ओकारान्तादेशे पररूपे “यस्येति च” इति अक्षिशब्दस्य इकारलोपे परोक्षमिति निष्पद्यते । ततः परोक्षमस्यास्तीत्यर्थे धर्मप्रधानात् परोक्षशब्दात् “अर्श आदिभ्योऽच्” इति अच्प्रत्यये “यस्येति च” इत्यकारलोपे टापि च कृते परोक्षा क्रिया इति सिध्यति ।

इत्यव्ययीभावसमासः ।

अथ तत्पुरुषसमासः ।

प्रश्नः—“द्विगुश्च” इति सूत्रं कथं त्यक्तुं शक्यते, तत् दर्शयित्वा द्विगोस्तत्पुरुषत्वे किम्फलमिति दर्शय ।

उत्तरम्—ननु “तत्पुरुषः” इत्यधिकारसूत्राऽनन्तरं “संख्यापूर्वो द्विगुश्च” इति सूत्रकरणाच्चकारखलेन द्विगुस्तत्पुरुषयोः समावेशः स्यात् । न च चकारस्योक्तसंज्ञाद्वयपठ्यायार्थत्वेन समुच्चयार्थत्वाऽभावात्कथमुभयोः समावेशः स्यादिति वाच्यम् । “संख्यापूर्वो द्विगुः” इति योगं विभज्य पूर्वण “तद्वित्तार्थोत्तरपदसमाहारे च” इत्यत्रोक्तस्य संख्यापूर्वस्य तत्पुरुषसंज्ञाविधानसामर्थ्यादेव पठ्यायत्वसिद्धौ चकारस्य संज्ञाद्वयसमावेशार्थत्वाक्षतेः । एवञ्च ‘द्विगुश्च’ इति सूत्रं त्यक्तुं शक्यते । द्विगोस्तत्पुरुषत्वे फलम्—पञ्चानां राज्ञां समाहार इति विग्रहे “तद्वित्तार्थ” इति द्विगुः, तस्य तत्पुरुषत्वात् “राजाहसखिभ्यष्टच्” इति टच् । “स नपुंसकम्” इति नपुंसकत्वम् । “अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियाम्” इति तु न भवति, समासान्तस्य टचः समुदायावयवत्वेन उत्तरपदावयवत्वाभावादिति दिक् ।

प्रश्नः—स्वयम् इत्यत्र द्वितीया सम्बध्यते न वा, अस्याव्ययस्य कान्तेन सह समासे किम्फलम् ? इत्येतत्सम्यक् प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“स्वयं क्तेन” इत्यस्य श्रयमर्थः—क्तप्रत्ययान्तप्रकृतिकपुबन्तेन

स्वयमित्यव्ययं समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । ननु “द्वितीयाश्रितातीत” इत्यतोऽनुवृत्तद्वितीया स्वयमित्यनेन सम्बध्यतामिति चेद् ? न । स्वयमित्यव्ययस्य आत्मनेत्यर्थकस्य कर्तृशक्तिप्रधानतया तृतीयाया एवोचितत्वात् द्वितीया इत्यनेन न सम्बन्धः, अयोग्यत्वात् ।

ननु स्वयमित्यव्ययस्य समासे असमासेऽपि किम् फलम्, असमासेऽपि “अव्ययादाप्सुपः” इति लुक् प्रवृत्तेरिति चेद् ? न । स्वयंकृतस्यापत्यमित्यर्थे “अत इज्” इति स्वयंकृतशब्दात् षष्ठ्यन्तादिनि तद्धितान्तप्रातिपदिकावयवत्वात् सुष्ठु-कि “यस्येति च” इत्यकारलोपे आदिवृद्धौ ‘स्वायंकृतिः’ इत्यस्य फलत्वात् । समासाभावे तु कृतशब्दस्यैव षष्ठ्यन्तत्वात् तत इति ऋकारस्यादिवृद्धौ रपरत्वे ‘स्वयं कर्तिः’ इति भेदस्य सत्वाच्च ।

प्रश्नः—“चतुर्थी तदर्थार्थं” अत्र तदर्थपदेन किं ग्राह्यम्, ‘अश्व-घासादयः के समासाः, तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—अत्र सूत्रे तदर्थपदेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते, अन्यथा यदि तादर्थ्यमात्रे अयं समासः स्यात्, तर्हि बलिर्भक्षितग्रहणं व्यर्थं स्यात् । भूतेभ्यो बलिः, गोभ्यो रक्षितं तृणमित्यत्रापि बलेर्भूतार्थतया, रक्षिततृणस्य गवार्थतया च तदर्थेत्येव समाससिद्धेस्तद् बलिर्भक्षितग्रहणं व्यर्थं सज्ज्ञापयति—“अत्र सूत्रे तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते” इति । तेन ‘यूपाय दारुः, ‘कुण्डलाय हिरण्यम्’ इत्यत्र प्रकृतिविकृतिभावस्य सत्वात् समासः । ‘रन्ध्रनाय स्थाली’ इत्यत्र तु प्रकृतिविकृतिभावविरहात् न समास इति फलम् । ननु तर्हि ‘अश्वाय घासः’ अश्वघास इत्यत्र कथं चतुर्थीतत्पुरुषसमासः इति चेद् ? न । अत्र “षष्ठी” इत्यनेन षष्ठीतत्पुरुषसमासस्य विवक्षितत्वात् ।

प्रश्नः—प्रतिपदविधाना षष्ठी का ? अनेन वार्तिकेणैव सिद्धे ‘न निर्धारणे’ इति सूत्रं व्यर्थं नवेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—पदं पदं प्रतिविहिता प्रतिपदविधाना कारकविशेषोपादानेन विहितेत्यर्थः । “षष्ठी शेषे” इत्येतद्विहितषष्ठ्यतिरिक्ता सर्वाऽपि षष्ठी प्रतिपदविधाने-त्युच्यते, सा न समस्यत इति तदर्थः । ननु “न निर्धारणे” इत्यनेन निर्धारणविहितषष्ठ्याः समासो निषिध्यते, वार्तिकेनापि प्रतिपदविधानषष्ठ्याः समासो निषि-ध्यते । एवञ्च शेषषष्ठ्यतिरिक्तायाः सर्वस्या अपि षष्ठ्याः प्रतिपदविधानत्वाद्वा-

तिकेनैवोक्तसूत्रप्रयोजनस्य गतार्थत्वात्सूत्रं व्यर्थमिति चेद् १ न । “यतश्च निर्धारणम्” इत्यनेन षष्ठ्या अविधानेन सप्तम्या एव विधानादनया तस्या बाधाऽभावाय तत्प्रतिप्रसवात्तत्र सम्बन्धसामान्य एव षष्ठ्या विधानात्तस्याश्चाऽप्रतिपदविधित्वाद्वातिकेनाऽगतार्थतया सूत्रस्य सार्थक्यादिति दिक् ।

प्रश्नः—“पूरणगुणसुहितार्थ” अत्रत्यगुणवाचकेन सर्वत्र समासनिषेधोऽन वेति लिख ।

उत्तरम्—अत्रत्यगुणवाचकशब्देन षष्ठ्यन्तस्य समासनिषेधोऽसार्वत्रिक इत्यर्थः । अत्र प्रमाणं “तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्” इत्यादिनिर्देश एव । तथाहि—गुणेन समासनिषेधस्य नित्यत्वे तस्य अशिष्यमित्यत्र समासनिषेधेन निर्दंशाऽसङ्गतिरिति स एव व्यर्थोभूतो ज्ञापयति—‘अनित्योऽयमित्यादिना । तेन ‘अर्थगौरवम्, ‘बुद्धिमान्द्यम्, इत्यादि सिद्धम् ।

प्रश्नः—“भूभर्ता” ‘त्रिभुवनविधातुः, अत्र “तृजकाभ्यां कर्तरि” इति कथं न निषेध इति प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु भुवो भर्ता भूभर्ता, अत्रापि “तृजकाभ्यां कर्तरि” इति निषेधः स्यात् १ न च भर्तृशब्दस्य याजकादौ पाठात् भवत्येव षष्ठीसमासः । “याजकादिभिश्च” इत्यस्य प्रतिप्रसवार्थत्वादिति वाच्यम्, एवं तर्हि वज्रस्य भर्तृत्यत्रापि समासप्रसङ्गादिति चेद् १ न । याजकादौ पत्यर्थकस्यैव भर्तृशब्दस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । एवं च ‘वज्रस्य भर्ता’ इत्यत्र “याजकादिभिश्च” इति न समास इति दिक् । नन्वेवं “तृजकाभ्यां कर्तरि” इति निषेधात् “त्रिभुवनविधातुः, इत्यत्र समासो न स्यादिति चेद् १ न । शेषषष्ठ्या समासत्वेनाऽदोषात् ।

प्रश्नः—“तक्षकस्य” सर्पस्य, अत्रत्यफक्किकां सम्यगुपपादय ।

उत्तरम्—तक्षकस्य सर्पस्य अत्र तक्षकस्येति षष्ठ्यन्तस्य सर्पस्येति समासाधिकरणेन सह “पूरणगुण” इति समानाधिकरणेन समासनिषेधात्समासो न भवति । ननु षष्ठीसमासस्य निषेधेऽपि “विशेषणं विशेष्येण बहुलम्” इति विशेषणसमासो दुर्वार इति चेद् १ न । तत्र बहुलग्रहणाद् विशेषणसमासाप्रवृत्तेः । गोर्धेनोरित्यादिषु षष्ठीसमासः प्राप्तः, सोऽप्यनेन समानाधिकरणग्रहणेन वार्यते । ननु षष्ठीसमास एवात्र न प्रसज्यते, “पोटायुवति” इत्यादिविशेषविहितकर्मधारयेणात्र परस्यापि षष्ठीसमासस्य बाधितत्वादिति चेद् १ न । “पोटायुवति” इत्यादिविधया

गौर्धेनुरित्यादिषु प्रथमाविभक्त्यन्तेषु सावकाशः, षष्ठीसमासस्तु 'राज्ञः पुरुषः' इत्यादौ असमानाधिकरणे सावकाशः, गोर्धेनोरित्यादिषुभयं प्राप्तम् । तत्र पोटायुवती-त्यादिविधीन् बाधित्वा प्राप्तः षष्ठीसमासः समानाधिकरणग्रहणाद् निषिध्यते ।

प्रश्नः—'मध्यान्हः' सायाह्, अत्रैकदेशिसमासे किम्प्रमाणं कथञ्च तदिति प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु "पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे" इति सूत्रे पूर्वादीनामुपादानादेतेषामेवैकदेशानां समासः स्यादन्त्येषां न स्यात्तथा मध्याह्नः सायाह्नः इत्यदिप्रयोगो नैवोपपद्येतेति चेद् ? न । "संख्याविषयाय" इति ज्ञापनात् । तथाहि—एकदेशिसमासमन्तरा सायपूर्वकाह्नशब्दस्यालाभात् प्रकृतसूत्रेण छौ परे अहनादेशविधानं व्यर्थं स्यात्, तदेव व्यर्थं सज्ज्ञापयति 'सर्वोऽप्येकदेशोऽन्हा समस्यते' इति । तेन ज्ञापकेन 'मध्यान्हः' 'सायाह्नः' इत्यत्र एकदेशिसमासस्यासिद्धिः ।

नन्वेवं तर्हि 'मध्यरात्रः', 'पश्चिमरात्रगोचराः' इत्यत्र केन समासः इति चेद् ? प्रकृतज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वेन अत्रापि समाससिद्धिः । तदुक्तम्—'केचित्तु सर्वोऽप्येकदेशः कालेन समस्यते न त्वन्दैव, ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वात्' । तेन 'मध्यरात्रः' 'उपारताः पश्चिमरात्रगोचरा' इत्यादिसिद्धमित्याहुः इति ।

प्रश्नः—'प्रासजीविका' अत्र केन समासः, कथञ्च तस्य सिद्धिरिति प्रदर्शय ।

उत्तरम्—जीविकां प्रासा या स्त्री सा प्रासजीविका अत्र "प्रासापन्ने च द्वितीयया" इति सूत्रेण समासे प्रासापदस्य दीर्घाकारस्य ह्रस्वाकारे च कृते प्रयोगः सिद्ध्यति । अन्यथा कर्मधारयसमासाभावेन "पुंवत्कर्मधारय" इति सूत्रापवृत्त्या प्रासपदे ह्रस्वाकारो दुर्लभ इति "प्रासापन्ने च द्वितीयया" अत्र अकारः प्रश्लेषः, स च प्रासा आपन्ना अनयोर्नन्ते विधेय इति दिक् ।

प्रश्नः—'युवखलती, युवजती, अत्र सामानाधिकरण्याभावात्कथं समास' इति लिख ।

उत्तरम्—ननु सूत्रे पुंलिङ्गयुवन्शब्दस्यैवोपादानात् खलतीजतीशब्दाभ्यां सामानाधिकरण्याभावेन समासाप्राप्त्या 'युवखलती' 'युवजती' इत्यादि न स्यादिति चेद् ? न । "प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्" इति परिभाषया युवतिशब्दस्यापि समासविधानात् । तथाहि—प्रातिपदिकस्य ग्रहणे लिङ्गबोधकप्र-

त्ययविशिष्टस्य अपिशब्दात्केवलस्याऽपि ग्रहणम्बोध्यम् । एवञ्चोक्तपरिभाषया सूत्रो-
पात्तयुवञ्छब्देन युवतिशब्दस्याऽपि ग्रहणात्तस्याश्च खलत्यादिसमानाधिकरणत्वा-
दुक्तप्रयोगोपपत्तौ न किमपि बाधकमिति दिक् ।

प्रश्नः—लिङ्गविशिष्टपरिभाषायां किम्प्रमाणं कथञ्च तदिति लिख ।

उत्तरम्—ननु सूत्रे कुमारशब्दस्य पाठात्तस्य श्रमणादिभिः स्त्रीलिङ्गविशिष्टैः
सह सामानाधिकरण्याऽभावात्कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणेति प्रयोगो न स्यादिति
चेद् ? न । “प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” इति परिभाषया कुमा-
रशब्देन कुमारीशब्दस्य ग्रहणात्तस्य च श्रमणादिशब्देन समानाधिकरणत्वात्समासे
इत्तप्रयोगस्योपपत्तेः ।

श्रमणादिगणे श्रमणा—प्रव्रजिता, इत्यादिस्त्रीलिङ्गाः पठ्यन्ते, तेषाञ्च कुमार
इति पुंलिङ्गेन सह सामानाधिकरण्यविरहात् समासविधानं व्यर्थं सज्ज्ञापयति—
“प्रातिपदिकग्रहणे” इति । फलञ्च—‘युवखलती’ इत्यादि ।

प्रश्नः—“गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबु-
त्पत्तेः” इति परिभाषायां किम्प्रमाणम्, अस्याः फलञ्च किमित्येत-
त्सम्यगुपपादय ।

उत्तरम्—“उपपदमतिङ्” इति सूत्रे “सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे” इति सूत्रा-
त्सुबिति प्रथमान्तं पदं “सह सुपा” इति सूत्रात् सुपेति तृतीयान्तञ्च पदमनुवर्तते ।
एवञ्च उपपदं सुबन्तं सुबन्तेन सह समाससंज्ञको भवतीत्यर्थं तिङन्तेन सह समासे
निषिद्धे ऽतिङ्ग्रहणं व्यर्थं सत् ‘सुपा’ इति तृतीयान्तं पदं नानुवर्तते इति ज्ञापयति ।

एवमेव “कृगतिप्रादयः” इति सूत्रे गतिग्रहणं पृथक्कृत्य तत्रातिङ्ग्रहणस्या-
पकर्षणेन गतिसंज्ञकोऽतिङन्तेन सह समाससंज्ञको भवतीत्यर्थेन तत्रापि सुपेति तृती-
यान्तपदस्य नानुवृत्तिः ।

इत्थञ्च “गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः” इति प-
रिभाषा सिद्धा । फलानि च अस्याः—व्याघ्री, अडवक्रीती, कच्छपी इति । तथाहि—
व्याघ्रिणीतीति व्याघ्री “आतश्चोपसर्गे” इति कः, आडो व्रशब्देन गतिसमासः । स
यदि व्रशब्दस्य सुबन्ततामपेक्षेत, तर्हि सुबुत्पत्तये संख्याद्यपेक्ष्य ततः प्रागेव लिङ्ग-
योग इति लिङ्गनिमित्तेन टापा भाव्यम्, न तु ङीषा । ग्रमात्रस्य जातीत्वाभावा-
त् । एवञ्च परिभाषाऽस्वीकारे “व्याघ्रा” स्यात् । अथेन क्रीता अत्र “कर्दकरणे

कृता बहुलम्” इति समासे “क्रोतात्करणपूर्वात्” इति ङीष् ‘अश्वक्रोती’ इति भवति । सुबन्तेन समासे तु टाप् स्यात् । एवं कच्छेन पिबतीति “कच्छपी” अत्र “सुपि” इति योगविभागात्के, उपपदसमासे जातिस्वानङ्गीष् च तत्सिद्धिः । सुबन्तेन सह समासे तु उक्तं रूपं न स्यादिति संक्षेपः ।

प्रश्नः—‘दीर्घान्हो प्रावृट्’ अत्र एत्वं कुतो नेति च्छद् ।

उत्तरम्—दीर्घाणि अहानि यस्यामिति बहुव्रीहौ समासे “ऋन्नेभ्यो ङीप्” इति ङीप् भसंज्ञायाम् “अस्त्रोपोऽनः” इत्यलोपे ‘दीर्घान्हो’ इति भूते, अत्र यद्यपि “अन्होऽदन्तात्” इत्यदन्तानुकरणान्हशब्दस्यैवानेन णत्वविधानात् प्रासिर्नास्ति, तथापि “प्रातिपदिकान्तनुम्बिभक्तिषु च” इत्यनेन णत्वप्रासिर्वर्तते तदर्थं “क्षुम्नादिषु च” इत्यत्रास्य पाठसत्वेन णत्वनिषेधः । एवञ्च यद्यपि “अन्होऽदन्तात्” इत्यत्रादन्तानुकरणं न स्यात्, तथापि ‘दीर्घान्हो’ इत्यत्र “क्षुम्नादिषु च” इति णत्वनिषेधः स्यादिति ।

प्रश्नः—“आन्महतः” इत्यत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा प्रवर्तते न वा ।

उत्तरम्—तथाहि—महतः सेवा ‘महत्सेवा’ इत्यादि षष्ठीसमासस्य लक्षणिकत्वम् । “सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः” इति सूत्रविहितसमासस्तु प्रतिपदोक्तः । ततश्च “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्” इति परिभाषया ‘महावैयाकरणः’ इत्यत्रात्वं स्यात्, महतः सेवा ‘महत्सेवा’ इत्यत्र चात्वं न स्यात्, इति समानाधिकरणं प्रकृतसूत्रे व्यर्थमेव स्यात् । तदेव व्यर्थं सज्ज्ञापयति—“आन्महतः” इत्यत्र ‘लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्’ इति परिभाषा न प्रवर्तते इति, तेन ‘महाबाहुः’ इत्यत्र ‘महान्तौ बाहु’ यस्येति विग्रहे “अनेकमन्यपदार्थे” इति बहुव्रीहिसमासे “आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः” इति आत्वे ‘महाबाहुः’ इति रूपम् । “आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः” इत्यत्र समानाधिकरणस्येदमेव प्रयोजनम् ।

प्रश्नः—‘अष्टागवम्’ इत्यत्र युक्तार्थस्य कथं लाभः ? तस्य साधनञ्च कुरु ।

उत्तरम्—अष्टौ गावो यस्मिन् इति बहुव्रीहिसमासे “अच् प्रत्यन्ववसर्गात्” इत्यत्र ‘अच्’ इति योगविभागात् अचि, “गवि च युक्ते” इति अष्टन आत्वे ‘अष्टागवम्’ इति रूपं सिद्धम्, युक्तार्थस्यापि बहुव्रीहिणा लाभः ।

यद्यपि तत्पुरुषे युक्तार्थो न लभ्यते, तथापि तत्र 'अष्टानां गवां समाहारः' 'त-
द्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इति समाहारे तत्पुरुषसमासे "गोरतद्वितलुकि" इति
टचि, 'अष्टगवम्' इति भूते, ततोऽष्टगवमस्यास्तीति "अशंआदिभ्योऽच्" इति
अच्प्रत्ययेन युक्तार्थो गम्यते, तेन च "गवि च युक्ते" इति आत्वे 'अष्टगवम्' इति
सिद्ध्यतीति दिक् ।

इति तत्पुरुषसमासः ।

अथ बहुव्रीहिसमासः ।

प्रश्नः—“चित्राजरद्गुः” इत्यत्र पुंवद्भावः कस्य भवति;
तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—चित्रा जरती गौर्यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ “स्त्रियाः पुंवद्” इति
विहितः पुंवद्भावश्चित्राशब्दे न प्रवर्तते, सूत्रस्यास्योत्तरपदप्रकरणस्यत्वाच्चित्राश-
ब्दस्य च मध्यमेन जरतीशब्देन व्यवधानात् उत्तरपदपरकत्वाभावात् । मध्यमे जर-
तीशब्दे तु प्रवर्तते एव उत्तरपदपरत्वात् । न चात्र उत्तरपदशब्देन पूर्वपदस्याक्षेपात्
जरतीशब्दस्य च पूर्वपदत्वाभावात् कथमिह पुंवत्वमिति वाच्यम् । “आनङ् कृतो
द्वन्द्वे” इति सूत्र इव प्रकृतसूत्रेऽपि “स्त्रियाः पुंवद्” इत्यत्र पूर्वपदस्यानाक्षेपात् ।
“आनङ् कृत” इत्यत्र पूर्वपदस्यानाक्षेपे हि ‘होतृपोतृनेष्ट्रोद्गातारः’ इत्युपा-
न्तस्य नेष्टुरुदाहृत आनङ् भाष्यकारेण सङ्गच्छत इति दिक् ।

प्रश्नः—‘पुंवद्भावप्रतिषेधोऽऽप्रत्ययश्च प्रधानपूरणयामेव अस्य शाश्व-
त्सोदाहरणं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणामिति विग्रहे उद्भूतावयवभेद-
विवक्षया पञ्चमीशब्दः प्रधानपूरणप्रत्ययान्तश्चेति “पूरणी प्रियादिषु” इति पुंव-
द्भावप्रतिषेधे जाते “अप्पूरणीप्रमाण्योः” इत्यपि ईकारलोपे च कृते प्रयोगः सिद्ध्य-
ति । कल्याणपञ्चमीकः पक्षः अत्र तु तिरोहितावयवभेदविवक्षया पञ्चमीपदार्थः
प्रधानं न भवतीति पुंवद्भावप्रतिषेधो ऽऽप्रत्ययश्च न भवति । 'उद्भूतावयवभेद-
विवक्षायां समासघटकतया यावन्ति पदानि सन्ति, तेषां सर्वेषामर्थः प्रधानं भवति
तिरोहितावयवभेदविवक्षायान्तु समासघटकपदानामर्थः प्रधानं न भवति, किन्तु
अन्यपदार्थ एव प्रधानं भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—सपत्नीशब्दः कतिविधः, तत्र पुंवद्भावे सति कानि कृपाणि भवन्ति, तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—सपत्न्या अपत्यमित्यर्थे शत्रुपर्यायं विवाहनिबन्धनञ्च पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्ताभ्यां सपत्नीशब्दाभ्यां “तस्यापत्यम्” इत्यणं बाधित्वा “स्त्रोभ्यो ढक्” इति ढकि प्राप्ते “शिवादिभ्योऽण्” इत्यणि आद्यस्य सपत्नीशब्दस्य भाषितपुंस्कतया पुंवत्वे ङोपो निवृत्तौ सापत्न इति रूपम् । नकारस्य तु न निवृत्तिः, शत्रुपर्यायसपत्नशब्दस्य अव्युत्पन्नप्रातिपदिकतया तत्र नकारस्य स्त्रीत्वनिमित्तकत्वाभावात् । द्वितीयस्य तु सपत्नीशब्दस्य ङोन्नत्वाभ्यामुत्पन्नस्य शिवाद्यणि कृते भाषितपुंस्कत्वाभावात् न पुंवत्वम् ; किंतु ङोपो “यस्येति च” इति लोपे ‘सापत्न’ इति रूपम् ।

सापत्यः—सपत्न्या अपत्यमित्यर्थे स्वामिपर्यायं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तात् सपत्नीशब्दात् “तस्यापत्यम्” इत्यणं बाधित्वा “दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाऽयः” इति ण्यप्रत्यये अस्य सपत्नीशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवत्वे सति ङोन्नत्वयोर्निवृत्तौ “यस्येति च” इतीकारलोपे ‘सापत्यः’ इति रूपम् । नवात्र “शिवाद्यण्” इति कथं नेति वाच्यम् । शिवादौ रूढयोरेव प्रहणात् । शत्रुपर्यायं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तसपत्नशब्दो रूढः । विवाहनिबन्धने पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तस्तु योगरूढः । स्वामिपर्यायं पतिशब्दमाश्रित्य प्रवृत्तस्तु केवल्यौगिकः ॥

प्रश्नः—“ओर्गुणः” इत्यत्र “ओरोत्” इति न्यासो युवक्तेो नवेति प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु गुणः उकारस्थाने भवन् स्थानसाम्यादोकार इव भवति । ततश्च लाघवात् ‘ओरोत्’ इत्येव सिद्धे गुण इति गुरुनिर्देशो व्यर्थ इति चेद्, न । ‘संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः’ इति परिभाषायाः ज्ञापकत्वेन साफल्यत्वात् । नचैवमपोह तद्धितसंज्ञापूर्वकत्वं दुर्वारमिति वाच्यम् । विधेयसमर्पकं पदं यत्र संज्ञारूपं स एव संज्ञापूर्वकविधिरित्यभ्युपगमात् । न च ‘ओत्’ इति “तपरस्तत्कालस्य” संज्ञेति वाच्यम् । विधीयमानत्वादेव तत्कालत्वसिद्ध्या तकारस्य उच्चारणार्थत्वात् । स्वयम्भुवोऽपत्यमित्यर्थे अणि स्यायंभुवः, संज्ञापूर्वकत्वेनानित्यत्वादोर्गुणाभावे उवङ् आदिवृद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—कथं तर्हि ‘विनसा हतबान्धवा’ इति भट्टिः, इमां शङ्कां निराकुरुत ।

उत्तरम्—ननु विगता नासिका यस्येति विग्रहे अचि नसादेशे टापि च विनसेति भट्टिप्रयोगो न युज्यते । प्रादेशस्यास्य नसादेशः प्रत्यपवादत्वादिति चेद् ? उच्यते—विगता नासिका, इति प्रादिसमासः । अबहुव्रोद्धित्वात् न प्रादेशः, किन्तु टायां “पहन्” इति नसादेशे विनसेति तृतीयान्तं रूपम् । अत्र उपलक्षिता इत्यध्याहार्यम् ।

इति बहुव्रीहिसमासः ।

अथ सर्वसमासशेषः ।

प्रश्नः—“सुपां सुपा तिङा नाम्ना” इत्यादिकारिका सोदाहरणं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—सुपां सुपेत्यादि—सुबन्तानां सुबन्तेन, सुबन्तानां तिङा, सुबन्तानां प्रातिपदिकेन सुबन्तानां धातुना च, तिङन्तानां तिङन्तेन, तिङन्तानां सुबन्तेन च समासः, इत्येवं बुधैः षड्विधः समासो ज्ञेयः इति कारिकार्थः । अथोदाहरणानि क्रमेण राजपुरुषः । अत्र राज्ञः इति षष्ठ्यन्तस्य सुबन्तेन सह समासः । पर्यभूषयत्—अत्र परीति सुबन्तस्य अभूषयत् इति तिङन्तेन सह “सह सुपा” इत्यत्र सहेति योगविभागात्समासः । कुम्भकारः—अत्र “उपपदमतिङ्” इति सूत्रेण कुम्भस्येति षष्ठ्यन्तस्य कारेति प्रातिपदिकेन समासः । कटप्रूः—“क्लिब्वचिप्रच्छया-यतस्तुकटप्रुजिञ्चीणं दोर्वोऽसम्प्रसारणञ्च” इति वार्तिकेन कटस्य ‘प्रु’ धातुना समासो निपातितः । पिषतस्वादत्—अत्र मयूरव्यंसकादित्वात् तिङन्तस्य तिङन्तेन सह समासः । कृन्तविचक्षणानां—कृन्त विचक्षण यस्यां क्रियायां सा कृन्तविचक्षणा, अत्र कृन्तेति तिङन्तस्य विचक्षण इति सुबन्तेन सह “पृहीडादयोऽन्यपदार्थे” इति मयूरव्यंसकादौ पाठात् समासः इत्यलम् ।

इति सर्वसमासशेषः ।

अथ समासाश्रयः ।

प्रश्नः—‘इल्लेखः’ इति संसाध्य “ उत्तरपदाधिकारे” इयं परिभाषा कथं क्वापितेति लिख ।

उत्तरम्—इदमस्य लेखः ‘इल्लेखः’ अत्र “षष्ठी” इत्यनेन षष्ठीतत्पुरुषस-

मासे, “हृदयस्य हृत्तलेख्यदण्डासेषु” इति हृदादेशे च तत्सिद्धिः । अत्र सूत्रे अण्-प्रत्ययेन “प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः” इत्यादिपरिभाषया प्रत्ययान्ततद्वा-दीत्यंशोपस्थितौ केवलप्रत्ययस्थले व्यपदेशिवद्भावेन अण्प्रत्ययान्ततदादित्वं, लेखशब्दे चाणप्रत्ययान्तत्वं वर्तत एवेति स्थलद्वयेऽपि हृदादेशे सिद्धे लेखग्रहणं व्यर्थं सत् “उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” इति परिभाषां ज्ञापयति । लेखेतिपदं घञन्तलेखशब्दबोधनार्थमिति न शङ्क्यम् । “सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्” इति परिभाषया अण्प्रत्ययसाहचर्यगणन्तलेखस्यैव ग्रहणात् ।

प्रश्नः—“परमकारीषगन्धोपुत्रः” इदं सशास्त्रं शङ्कानिरासपूर्वकं व्याख्येयम् ।

उत्तरम्—ननु करीषस्य गन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहे “ससम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः” इति समासे पूर्वखण्डे उत्तरस्य गन्धशब्दस्य लोपे च “उपमानाच्च” इतीत्से करीषगन्धः, तस्यापत्यं स्त्री इत्यर्थे “तस्यापत्यम्” इत्यणि “अणिजोरनार्पयोः” इति तस्य व्यङ्ग्यदेशे “यस्येति च” इतीकारलोपे आदिवृद्धौ “यङश्चाप्” इति चापि, कारीषगन्ध्या, परमा च सा कारीषगन्ध्या च परमकारीषगन्ध्या, तस्याः पुत्र इति षष्ठीसमासे सुब्लुकि परमकारीषगन्ध्या पुत्र इति स्थिते “व्यङ्ग्यः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे” इति व्यङ्ग्यः सम्प्रसारणे “सम्प्रसारणस्य” इत्यनेन तस्य दोषे “परमकारीषगन्धीपुत्रः” इति भवति ।

ननु अत्र सम्प्रसारणं दुर्लभम्, व्यङ्ग्यः करीषगन्धिषाब्दादेव विहितत्वेन परमकारीषगन्ध्याशब्दस्य पूर्वपदस्य व्यङ्ग्यन्तत्वाभावात्प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणादिति चेद् ? न । “स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न” इति परिभाषया तदादिनियमाभावात् परमकारीषगन्ध्याशब्दोऽपि व्यङ्ग्यन्त एवेति तात्पर्यात् । कारीषगन्ध्यामतिक्रान्तः, अतिकारीषगन्ध्याः, “अत्यादयः” इति समासे उपसर्जनह्रस्वः । तस्य पुत्रः अतिकारीषगन्धयपुत्रः । अत्र “स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमो न” इति निषेधो न भवति, अनुपसर्जन एव स्त्रीप्रत्यये तस्य निषेधस्य प्रवृत्तेः । व्यङ्ग्यत्वं स्त्रीप्रत्ययोऽत्र उपसर्जन एव । अतस्तत्र तदादिनियमसत्त्वात् अतिकारीषगन्ध्याशब्दो नैव व्यङ्ग्यन्त इति न सम्प्रसारणमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘गर्गभगिनी’ अत्र णत्वं कुतो नेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—ननु ‘गर्गाणां भगिनी’ ‘गर्गभगिनी’ इत्यत्र ङोप्प्रत्ययप्रकृति-
भूतभगिन्शब्दात्मकप्रातिपदिकान्तत्वात् नकारस्य “प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु
च” इति णत्वविकल्पः कथन्नेति प्रष्टुराशयः । उत्तरयितुस्त्वयमाशयः—प्रकृतसूत्रे
पूर्वपदेन उत्तरपदमाक्षिप्यते, तच्च प्रातिपदिकस्यैव विशेषणम्, न तु तदन्तस्य,
नापि नुम्विभक्तेः । प्रकृतोदाहरणे च भगिनीशब्द उत्तरपदं न तु तत्प्रातिपदिकम्,
प्रत्ययान्तत्वात् लिङ्गविशिष्टपरिभाषया प्रातिपदिकग्रहणेन भगिनीशब्दस्य ग्रहणेऽ
पि तदन्तमीकार एव न तु नकारः, अतो नात्र पाक्षिकं णत्वमिति । अत्र च नुम्
ग्रहणमेव ज्ञापकम् ।

प्रश्नः—‘माषकुम्भवापेन’ चतुरङ्गयोगेन, अत्र णत्वं कथं वारितं
तत्प्रदर्शय ।

उत्तरम्—माषाणां कुम्भो माषकुम्भः, तस्य वापः इति षष्ठ्यमासः ।
अत्र निमित्तकार्यिणोः षकारनकारयोः कुम्भपदेन व्यवधानान्न णत्वम् । चतुरङ्गयो-
गेनेति । चत्वारि अङ्गानि रथगजतुरगपदातिरूपाणि यस्य तत् चतुरङ्गं, सैन्यम्, तेन
योगः इति विग्रहः । अत्र निमित्तकार्यिणोरङ्गपदेन व्यवधानान्न णत्वम् । उभयत्रा-
पि कुम्भशब्दस्य अङ्गशब्दस्य च प्रत्ययलक्षणेन अन्तर्धर्तिर्नो विभक्तिमाश्रित्य पदत्वं
वर्तते । “उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः” इति निषेधस्तु नात्र प्रवर्तते, उत्त-
रखण्डस्य कार्यभाक्त्वे सत्येव तत्प्रवृत्तेः । अत एव “न लुमताङ्गस्य” इत्यत्र पर-
मवाचेत्येव तस्याः परिभाषाया उदाहरणमुक्तम्भाष्ये । अत्र हि वाक्छब्दस्य उत्त-
रपदस्य कुत्वरूपकार्यभाक्त्वमस्तीति तस्य अन्तर्धर्तिर्नो विभक्तिमाश्रित्य पदत्वा-
भावात् कुत्वं न भवति । अत एव च “कुमति च” इति सूत्रे भाष्ये माषाणां
कुम्भः माषकुम्भः, माषकुम्भस्य वापो माषकुम्भवापः तेन माषकुम्भवापेनेत्यत्र
“पदव्यवायेऽपि” इति निषेधप्रवृत्तये “प्रातिपदिकान्त” इति णत्वप्रवृत्तिरुपन्यस्ता
सङ्गच्छते । नचैवं सति रम्यविणा इत्यत्र वि इत्युत्तरखण्डस्य कार्यभाक्त्वाभावात्
“उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ” इति प्रत्ययलक्षणनिषेधस्याप्रवृत्तौ अन्तर्धर्तिविभक्त्या-
श्रयणेन पदत्वात् “पदव्यवायेऽपि” इति णत्वनिषेधः स्यादिति वाच्यम्, पदे पदे
यत्पदं तेन व्यवहारे णत्वं नेत्यर्थस्यैव भाष्यसम्मतत्वादिति दिक् ।

इति समासाश्रयविधिः ।

अथ तद्धितेष्वपत्याधिकारः ।

प्रश्नः—“आदिवृद्धिरन्योपधावृद्धौ बाधते” अस्या भाशयं प्रकटय ।

उत्तरम्—एकलक्ष्ये एककालावच्छेदेन कार्यद्वयस्यासम्भवरूपं विप्रतिषेधसूत्र-प्रवृत्तौ निमित्तं, तच्चात्र नास्ति, यतः एकलक्ष्ये आदिवृद्धौ अन्त्यवृद्धौ च सत्यां नहि कश्चिद् विरोधः । एवञ्च एकत्र लक्ष्ये आदिवृद्धौ उपधावृद्धौ च सत्यां नास्ति विरोध इति विप्रतिषेधसूत्राप्रवृत्तौ परत्वमूलकबाधो न सम्भवति । एवमादिवृद्धौ सत्यामन्त्योपधावृद्धयोः सत्योः आदिवृद्धेश्च प्रसङ्ग इति नित्यत्वप्रयुक्तोऽपि बाधो न भवति । अथ च सर्ववृद्धिनां प्रकृतिप्रत्ययोभयसापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वमूलकबाधासम्भवः । अन्यत्र वृद्धिप्रत्ययस्य साफल्येनापवादमूलकबाधासम्भवश्चेति किम्मुल्लिख-दिवृद्धिर्बाधिकेति सम्यग् अनुश्रुतिकादिगणे पुष्करसच्छब्दस्य पाठो बाधकत्वे मू-लम् । अन्यथा “तद्धितेष्वचामादेः” इति सूत्रेणादिवृद्धौ “अत उपधायाः” इत्य-नेनोपधावृद्धौ च सत्यां पौष्करसादिशब्दस्य सिद्धौ तदग्रे पुष्करसच्छब्दस्य पाठ उ-भयपदवृद्धयर्थो निष्फल एव स्यादिति ।

प्रश्नः—‘तस्येदमित्यपत्येऽपि बाधनार्थं कृतं भवेत् । उत्सर्गः शेष एवासौ वृद्धान्यस्य प्रयोजनम्’ इति कारिका व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—इदमर्थेऽपत्यसमूहविकारादीनामन्तर्भावादपत्येऽपि “तस्येदम्” इ-त्यण् प्रवर्तते इति किमनेन “तस्यापत्यम्” इति सूत्रेण । यद्यपि “अत इज्” इ-त्याद्यर्थे “तस्यापत्यम्” इति वक्तव्यम्, तथापि योगविभागः किमर्थं इत्याक्षेप्तु-राशयः, समाधत्ते—“तस्येदम्” इत्यस्य यद्बाधकं “वृद्धाच्छः” इति, तद्बाधनार्थं पृ-थक् सूत्रं कृतं भवेदित्यर्थः । ननु “तस्येदम्” इत्यणस्तदपवादस्य वृद्धाच्छस्य च शैषिकत्वादपत्यार्थे प्रसक्तिरेव नास्ति, अपत्यादिचतुर्थपर्यन्तेभ्यो योऽन्योऽर्थः स शेष इत्यभ्युपगमात् अत आह—‘उत्सर्गः शेष एवासौ, असौ—अपत्यार्थः । असति योगविभागे अदन्तबाह्यादिप्रकृतिसम्बद्धस्यैवापत्यार्थस्योपयोगादुपगवादिप्रकृतिसम्बद्धोऽपत्यार्थः शेष एव स्यात् । तथा च अणं बाधित्वो भान्वादिभ्यो “वृद्धाच्छः” प्रसज्येत । कृते तु योगविभागे प्रकृतिसामान्यसम्बद्धस्यापत्यार्थस्योपयोगाच्छेष-त्वाभावेन छस्य प्राप्तिरेव नास्ति । एवञ्च अप्राप्तिसम्पादनद्वारा छबाधकत्वम् “त-स्यापत्यम्” इति पृथक्सूत्रस्य सिद्धम् । ननु उपगवादेरवृद्धत्वेन छस्य प्रवृत्त्यभावा-

न्निष्फलो योगविभागः स्यादत आह—वृद्धानीति—भान्वादिप्रातिपदिकानि वृद्धानि; अस्य प्रयोजनमित्यलम् ।

प्रश्नः—कृतसन्धेः किम् ? सौत्थितिः, “अकृतव्यूहपरिभाषया सावुत्थितिर्माभूत्” इति फक्किकां प्रतिपादय ।

उत्तरम्—सौत्थितिरित्यत्र सु-शोभनः, उत्थितः सूत्थितः । प्रादिसमासे सवर्णदीर्घः । सूत्थितस्यापत्यं सौत्थितिः । अत इज्, सुष्ठुक्, आदिवृद्धिः “यस्येति च” इत्यकारलोपः । “तस्यापत्यम्” इति सूत्रे कृतसन्धेरित्यस्याभावे सु उत्थित इत्यस्यामेव दशायां सवर्णदीर्घत्वात्परत्वादादिवृद्धौ कृतायामावादेशे सावुत्थितिरिति स्यात् । नन्वन्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घे कृते तदुत्तरमेव इहप्रत्यय उचितः परादन्तरङ्गस्य बलवत्त्वात् । ततश्च सन्धेः प्राक् तद्धितोत्पत्तेरप्रसक्तेः कृतसन्धेरिति व्यर्थमेवेति चेद्, न । “अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः” इति परिभाषया सन्धेरभावप्रसङ्गात् । तथाहि—अन्तरङ्गपरिभाषाया अप्यपवादभूतया अकृतव्यूहपरिभाषया सन्धेः प्रागेव प्रत्ययः स्यात् । ततश्चादिवृद्ध्यपेक्षयाऽन्तरङ्गोऽपि सवर्णदीर्घः अकृतव्यूहपरिभाषया आदिवृद्धेः प्राग् न प्रवर्तते । एवञ्च सवर्णदीर्घात्प्रागेवादिवृद्धौ आवादेशे सावुत्थितिरिति स्यादित्यर्थः ।

प्रश्नः—गोत्रे स्वैकोनेति कारिका यथायथमुपपादनीया ।

उत्तरम्—ननु “एको गोत्रे” इति सूत्रं व्यर्थम्, नच तत्रानेकप्रत्ययव्यावृत्त्यर्थमावश्यकं तदिति वाच्यम् । युगपदेकस्मिन्गोत्रेऽनेकप्रत्ययानामप्रसक्तेरित्याशङ्क्य सूत्रारम्भफलं दर्शयति—गोत्रे स्वैकोनेत्यादि । स्वं गोत्रं तदपेक्षया एको-नसंख्यानां प्रत्ययानां तृतीये द्वयोः, चतुर्थं त्रयाणां, पञ्चमे चतुर्णां प्रत्ययानां परम्परा प्रसज्येत इति तदर्थः । तथाहि—उपगुशब्दात्तृतीये वाच्ये द्वयोरणिजोः प्रत्यययोरापत्तिः । उक्तशब्दादेव चतुर्थे वाच्ये त्रयोणामणिष्फकां प्रत्ययानां प्रसक्तिः । तत एव पञ्चमे वाच्ये चतुर्णामणिष्फगिणां प्रत्ययानां परम्परेति । न च “यस्येति च” इति सूत्रेणाणोऽलोपेनाविद्यमानत्वादणिजादीनामप्रत्ययानां परम्परेत्युक्तेः कथं सङ्गतिरिति वाच्यम् । अणन्तादिज उत्पत्तिः, इजन्तात् फक् इत्यभिप्रायेण प्रत्ययपरम्परेत्युक्तेः सङ्गतेः ।

यद्वा स्वं गोत्रं तदपेक्षया द्व्ययूनसंख्येभ्यः प्रकृतिभूतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽनिष्ट-प्रत्ययोत्पत्तिरित्यर्थः । उपगोस्तृतीये वाच्ये एकस्मानौपगवादिजनिष्टः प्राप्नोति, चतु-

थं वाच्ये द्वाम्बा, पञ्चमे त्रिभ्य, इत्यादि । अत्रानिष्टोत्पत्तिमात्रं नत्विष्टसिद्धिरित्यर्थः । अत्र पक्षे उपगुशब्दादणेशसिद्धावपि औपगवादिष्णिनवृत्त्यर्थं नियमार्थं सूत्रम् । गोत्रे वाच्ये एक एव शब्दः प्रत्ययप्रकृतिर्नस्त्वेनेकशब्दः इत्यर्थः । यद्वा एकः शब्दः प्रथमवाची, प्रथमः शब्दो गोत्रे प्रत्ययमुत्पादयतीत्यर्थः । प्रथमत्वञ्च सर्वमूलकत्वमिति स्पष्टं भाष्ये । अपत्यं पितुरेवेति । मुख्यपक्षमाह—ततः प्राचामपीत्यादि । पित्रपेक्षया प्राचां पितामहादीनामपीत्यर्थः । न पतन्त्यनेनेत्यपत्यमिति व्युत्पत्तेः । यस्य यन्निमित्तमपतनं तस्य तदपत्यमिति फलितम् । पितामहादीनामपतने पौत्रादेरपि हेतुत्वेन तेषामपत्यम्भवति । मतभेदेनेति । प्रथमपक्षे प्रत्ययमाळानिवृत्तये, द्वितीये स्वद्ध्यूनसंख्येभ्योऽनिष्टोत्पत्तिनिवृत्तये इत्यर्थः । सूत्रमेतत्तथोत्तरमिति स्पष्टम् ॥

प्रश्नः—“क्षत्रियसमानशब्दात्” इति वार्तिकं व्याचक्ष्वस्व ।

उत्तरम्—तेषां राजा तद्राजस्तद्राजमाचष्टेतद्राजयति, तद्राजयतीति तद्राजस्तत्तद्देशस्य राज्ञो वाचकः इत्यन्वर्थतद्राज इति संज्ञासामर्थ्येन यो हि शब्दो देशस्य वाचकः क्षत्रियरूपार्थस्य च वाचकस्तस्मात् शब्दात्, तस्य नाम षष्ठ्यन्तात् समर्थात् अपत्येऽर्थं यथा प्रत्यया भवन्ति, तथा राजन्यप्यर्थं प्रत्ययाः स्युः । एवञ्च पञ्चालानां राजा; पञ्चालस्यापत्यं वेत्यर्थद्वयेऽपि पाञ्चाल इति रूपं सिद्ध्यति ।

इति सङ्क्षितेष्वपत्याधिकारः ।

अथ चातुरार्थिकम् ।

प्रश्नः—“वामदेवाड्डयड्डयौ” इति सूत्रे डिट्करणस्य प्रयोजनं निरूप्यताम् ।

उत्तरम्—“वामदेवाड्डयड्डयौ” इति सूत्रेण ययतोः प्रत्यययोः कृतयोः सतोः “यस्येति च” इति सूत्रेण अकारलोपे कृते ‘वामदेव्यम्’ इति प्रयोगे सिद्धे प्रत्ययद्वये ङकारोपादानं “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” इति, “एकानुबन्धकग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य” इति च परिभाषाद्वयं ज्ञापयति । “पूरणगुणसुहितार्थसद्व्ययतव्यसमानाधिकरणेन” इत्यत्र तव्यग्रहणेन तव्यतो ग्रहणं नेति “निरनुबन्धक” इति परिभाषायाः फलम् । “एकानुबन्धकग्रहणे” इत्यस्याः परिभाषायाः फलन्तु अडा चडो ग्रहणं नेति । इत्थञ्च “ययतोश्चातदर्थे” इति सूत्रे ययदिति-

प्रत्ययद्वयेन ङ्यत्ङ्येतिप्रत्ययद्वयस्य ग्रहणाभावेन अवामदेव्यमितिप्रयोगे उदात्त-
स्वराभावः सिद्ध्यतीति फलमिति दिक् । तथाहि—‘सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थ-
ययतौ ङितौ । ग्रहणं मा तदर्थं भूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे ॥ इति ।

इति चातुरर्थिकम् ।

अथ शेषाधिकारः ।

प्रश्नः—“शेषः” इति सूत्रस्य लक्षणत्वमधिकारत्वं च सम्यगुप-
पादयेताम् ।

उत्तरम्—लक्षणं तावत्—ग्रहणक्षुण्णादिष्वर्थेषूत्तरसूत्रानुपात्तेष्वणो विधायक-
म् । ननु लक्षणं तावद्व्यर्थम्, “तस्येदम्” इत्यनेन चाक्षुषादीनाम् “संसृजतं
भक्षाः”, इत्यनेन दार्षदादीनां सिद्धेः । तथाऽधिकारोऽपि व्यर्थः । उत्तरसूत्रेषु
निर्दिष्टानामर्थविशेषाणामपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्यत्वस्य सिद्धत्वादिति वाच्यम् ।
अत्रोच्यते—‘शैषिकात्सरूपः शैषिको न’ इति वक्ष्यमाणार्थस्य विषयलाभाय शेषा-
धिकारस्तावदावश्यकः । शैषिकत्वप्रयुक्तकार्यविशेषं ध्वनयितुं क्रियमाणः शेषा-
धिकार एव “शैषिकान्मतुबर्थीयात्” इत्यादिश्लोकं ज्ञापयति । अपत्यादिष्वर्थेषु
घादीनां निवृत्त्यर्थमप्यधिकार आवश्यकः । एवं स्थिते चाक्षुषमित्यादिषु गृह्यमाण-
त्वादिप्रकारकबोधनाय विधायकत्वमपि सुवचम् । इति शेषाधिकारः ।

अथ ठगाधिकारः ।

प्रश्नः—आकर्षात्पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च । आवस-
थात्किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे ॥ इयं कारिका व्याख्येया ।

उत्तरम्—आकर्षादित्यादि श्लोकवार्तिकमिदम् “प्राग्वहतेष्ठक्” इत्यादौ
ठगिति षठ्गिति वा छेद इति संशयनिवृत्त्यर्थम् “आकर्षात्षठल्” इति सूत्रभाष्ये
पठितम् । तत्र आकर्षादित्यनेन “आकर्षात्षठल्” इति सूत्रं विवक्षितम् । “पर्पा-
दिभ्यः” इत्यनेन “पर्पादिभ्यः ण्” इति सूत्रं विवक्षितम् । “भस्त्रादिभ्यः” इत्य-
नेन “भस्त्रादिभ्यः ण्” इति सूत्रं विवक्षितम् । कुसीदसूत्रादित्यनेन “कुसीद-
दशैकादशात् ण्” इति सूत्रं विवक्षितम् । आवसथात् इत्यनेन “आवस-
थात् षल्” इति सूत्रं विवक्षितम् । किसरादेरित्यनेन “किसरादिभ्यः ण्” इति
सूत्रं विवक्षितम् । “प्राग्वहतेष्ठक्” इत्यधिकारे एतैः सूत्रैर्विहितैः षट् प्रत्ययाः

षित इत्यर्थः । ननु “कुलीद” इति सूत्रे प्रत्ययद्वयविधानात् एतत्सूत्रषट्कविहि-
ताः सप्त प्रत्ययाः लभ्यन्त इति षट् षित इति कथमिति चेदुच्यते—षडिति सूत्र-
षट्केन विहिता इत्यर्थः । प्रत्ययास्तु सप्त । इति ऋगधिकारः ।

अथ तद्धितेषु प्राग्विधायाः ।

प्रश्नः—प्राग्विधीयानां विभक्तिसंज्ञाफलानि लिखत ।

उत्तरम्—प्राग्विधीयानां विभक्तित्वे त्यदाद्यत्वं “न विभक्तौ तुस्माः” इती-
त्संज्ञानिषेधः, “तद्धितश्चासर्वविभक्तिः” इत्यव्ययसंज्ञा, विभक्तिस्वरश्चेति च त्वारि
प्रयोजनानि । तथाहि—तच्छब्दात् “पञ्चम्यास्तसिल्” इति तसिलप्रत्यये, तसिलो
विभक्तित्वात् विभक्तौ विधीयमाने “त्यदादीनामः” इति त्यदाद्यत्वे “न विभक्तौ
तुस्माः” इति सकारस्येत्संज्ञानिषेधे “तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः” इत्यव्ययसंज्ञायाञ्च
विभक्तेर्लुकि तत् इति जायते । एवञ्च प्रयोजनत्रयस्यैकमेवोदाहरणम् । स्वरस्य तु
इत् इति । अत्रेदंशब्दात्तसिलि “इदम् इश्” इति इशादेशे “ऊडिदम्” इत्यादिने-
दम् परस्य तस आद्युदात्तत्वम्, असति तु विभक्तित्वे लिति प्रत्ययात्पूर्वमाद्युदा-
त्तत्वं स्यात्, स्पष्टञ्चेदं “सद्यः परद्” इत्यादि । सूत्रव्याख्यानंमूल एव द्रष्टव्यम् ।

इति तद्धितेषु प्राग्विधायाः ।

अथ तद्धितेषु प्राग्विधायाः ।

प्रश्नः—चतुर्थादनजादौ चेति कारिका व्याख्येया ।

उत्तरम्—चतुर्थादच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्यः । तेन बृहस्पतिदत्तशब्दात्
“बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठञ्वा” इति ठचि दत्तशब्दस्य लोपे ठल्येकादेशे बृहस्पतिक
इति सिद्ध्यति । ‘अनजादौ च विभाषालोपो वक्तव्यः’ । देवदत्तशब्दात्कप्रत्यये द-
त्तशब्दस्य पाक्षिके लोपे देवदत्तको देवक इति रूपद्वयम् । पूर्वपदस्य च लोपो वा
भवति । अनजादाविति नात्र सम्बध्यते । तेन देवदत्तशब्दात् ठचि घनि ह्रस्वचि
कप्रत्यये च क्रमेण दत्तिकः—दत्तियः—दत्तिलः—दत्तक इति रूपाणि सिद्ध्यन्ति । अ-
प्रत्यये—विनापि प्रत्यये पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपः । तेन देवदत्तशब्दात् ठाजादिप्रत्यय-
स्याऽभावेऽपि पूर्वोत्तरपदयोः क्रमेण लोपे देवदत्तः दत्तः—देवः इति रूपाणि । सत्त्व-
भामा—भामा—सत्त्वा इति च । ल इति लोपस्य पूर्वोच्चार्यसंज्ञा । उवर्णात्परस्ये-
कचो लोपः स्यात् । “आदेः परस्य” इति इकारस्य लोपः, तेन भानुदत्तशब्दात्
“वनिलचो च” इति ह्रस्वचि भानुदत्तः—भानुलः, इति सिद्ध्यति । इति प्राग्विधायाः ।

तद्धितेषु तद्वाजाः ।

प्रश्नः—‘काकतालीयः’ इति अर्थनिर्देशपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—काकागमनमिव तालपतनमिवेति विग्रहे काकशब्दः काकागमन-
सदृशे देवदत्तागमने लाक्षणिकः । तालशब्दस्तु तालपतनसदृशे चोरागमने लाक्ष-
णिकः । काकगमनसदृशदेवदत्तागमनं तालपतनसदृशचोरागमनमिति च काकता-
लमिति समासाद्बोधः । अत्र अस्मादेव विधिवत्तात् “सुप्सुपा” इति समासः ।
ततः काकतालेति समासात्सादृश्यान्तरे छप्रत्ययः । तादृशचोरसमागमे सति
तालपतनवृत्तकाकमरणसदृशो देवदत्तस्य चोरकृतो वध इति छप्रत्यायाद्बोधः ।
इति तद्वाजाः ।

अथ द्विरुक्तप्रक्रिया ।

प्रश्नः—“कर्मधारयवदुत्तरेषु इति सूत्राभिप्रायः सोदाहरणो
वर्णनीयः ।

उत्तरम्—कर्मधारयवत् इति । इत उत्तरेषु द्विर्वचनेषु कर्मधारयवत्कार्यं
स्यात् । कर्मधारये यानि सुब्लोपपुंवद्भावान्तोदात्तत्वानि भवन्ति, तान्यत्रापि
स्युरित्यर्थः । यथा—“पटुपट्वी” इत्यत्र “प्रकारे गुणवचनस्य” इति सूत्रेण पट्वी-
शब्दस्य द्विर्वचने कर्मधारयवत्वात् “पुंवत्कर्मधारय” इति पूर्वखण्डस्य पुंवत्वं “स-
मासस्य” इत्यन्तोदात्तत्वञ्च भवति । ‘वोतो गुणवचनात्’ इति ङीषोऽभावे पुंसि
वा पटुरिति सुबन्तस्य द्वित्वे कर्मधारयवद्भावात् “सुपो धातु” इति सुलोपः “स-
मासस्य” इत्यन्तोदात्तत्वञ्चेति दिक् ।

प्रश्नः—“एकं बहुव्रीहिवत्” इति सूत्रं शङ्कानिरासपूर्वकं व्याख्येयम् ।

उत्तरम्—“विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ” इत्यतो बहुव्रीहिप्रहणेऽनुवर्त्त-
माने “न बहुव्रीहौ” इत्यत्र पुनर्बहुव्रीहिप्रहणं न सुख्यबहुव्रीहिसमासश्चिकीर्षिता
भवति, तत्रैव सर्वनामसंज्ञा न स्यादिति निषेधति । एवञ्चान्न “एकं बहुव्रीहिवत्”
इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमासे यत् कार्यम्भवति, तत् कार्यम्भवापि स्यादिति आरा-
पयति । तेनान्न बहुव्रीहिसमासाभावात् सर्वनामसंज्ञायासुक्तप्रयोगसिद्धिः । सूत्रप्र-
त्याख्याने सर्वनामसंज्ञायां विवाद एव नास्ति । सूत्रसत्तायामपि “एकं बहुव्रीह-
वत्” इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमासारोपो भवति, तेन च सुब्लुक्पुंवद्भावौ सिद्धयतः ।
न तु बहुव्रीहिसमासो भवतीति सदेहाभाव इति निष् ।

प्रश्नः—बहुलग्रहणस्य प्रयोजनं लिख ।

उत्तरम्—स्त्रीलिङ्गे पदद्वये टाबभावो भवति । नपुंसकलिङ्गे च स्वमोः स्था-
नेऽद्वादेशस्य विरहो—अभावो भवति । अन्यपदैः सह अन्यादिशब्दानां समासे
सति सोः—सुविभक्तेरलुक् च भवतीत्येतत् कार्यत्रयं, बाहुलकात्—बाहुलग्रहणात् सि-
द्धम्भवति । स्त्रीलिङ्गेऽन्योऽन्यमित्यादौ पदद्वये टापू न भवति । नपुंसकलिङ्गेऽन्यो-
ऽन्यमित्यादौ अद्वादेशो न भवति । अन्योऽन्यसंसक्तमित्यादिसमासस्थले पूर्व-
पदघटकसोलुक् च न भवति । अत्र च “अन्योऽन्यसंश्रयं त्वेतत्” इति भाष्योक्तं
प्रमाणमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘दलद्वये टाबभावः’ इति कारिका सौदाहरणं व्याख्येया ।

उत्तरम्—“कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नः” इत्यत्र बहुलग्रहणस्य प्रयोजनमाह—
दलद्वये इत्यादिना । स्त्रीलिङ्गेऽन्यपरेतरशब्देषु कर्मव्यतिहारे द्वित्वे सति पूर्वो-
त्तरखण्डयोः टाङ्गिनवृत्तिर्बहुलग्रहणस्य प्रथमं प्रयोजनम् । न च सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे
पुंवङ्गावः । अन्यपरयोः समासवङ्गावात् । न च द्विवचनमेव वृत्तिः । ‘यां यां प्रियः
प्रैक्षत कातराक्षी सा सा’ इत्यादावतिप्रसङ्गात् । अत्र हि द्विवचनस्य वृत्त्यन्तर्भावे
यां यामित्यत्र सासेत्यत्र च “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे” इति पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वं स्या-
त् । नपुंसके च “अन्योऽन्यमितरेतरम्” इत्यत्र “अद्वन्द्वतरादिभ्यः” इति सोः प्रा-
सोऽद्वाद् बाहुलकान्न भवतीति तस्य द्वितीयं प्रयोजनम् । ‘अन्योऽन्यसंसक्तमहस्त्रि-
यामम्’ ‘अन्योऽन्याश्रयः’ ‘परस्पराल्लिसाद्वयम्’ ‘अपरस्परैः’ इत्यादिषु सोलुक्
प्रासो बाहुलकाच्च भवतीति सोलुक्चेति तृतीयं प्रयोजनम् । अत्र कृतद्वित्वेषु स-
मासाधयेषु पूर्वखण्डस्य स्रवादेशस्य सोलुक् प्रासः । सभावविधानन्तु असमासे
चरितार्थम् । इति द्विरुक्तप्रक्रिया ।

अथ भ्वादिप्रकरणम् ।

प्रश्नः—“ह्लादिः शेषः” इत्यस्य तद्धा व्याख्यानं कुरुत, येन ‘आ-
ट, आटतुः’ इत्यत्र दोषो न भवेत् ।

उत्तरम्—“ह्लादिः शेषः” अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते
इति सूत्रार्थं ‘पपाच’ इत्यादौ अभ्यासस्यादिर्हल् वर्तते, तत्र अन्यहलो लोपो भव-
ति । ननु ‘आट आटतुः’ इत्यादौ तु अभ्यासस्याद्यक्षरो हल् नास्ति तत्र कथं हल्-
लोपः स्यादिति चेदुच्यते—“ह्रस्वोऽह्लादिः शेषः” इति संहितापाठे, अभ्या-

सस्य ह्रस्वो भवतु । ततोऽभ्यासोऽहल् भवतु-इल्लरहितो भवतु, ततोऽभ्यासस्या-
दिः शिष्येषु, अभ्यासस्याद्यक्षरो वर्ततां नाम इति वाक्यार्थत्रयेणाजादिधातुष्वपि
अभ्यासोऽहल् भवतु इति वाक्यार्थेन न काप्यनुपपत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—‘येन नाव्यवधानम्’ इत्यस्याभिप्राये दर्शनीयः ।

उत्तरम्—ननु “पुगन्तल्लघूपधस्य च” इत्यत्र “सार्वधातुकार्धधातुकयोः”
इत्यस्याङ्गविशेषणत्वे सार्वधातुकार्धधातुकाऽव्यवहितस्याङ्गस्येको गुणो भवतीत्य-
र्थकरणे भिनत्तीत्यत्रापि गुणापत्तिः, तयोरिको विशेषणत्वे तु ‘भेत्ता’ इत्यत्रापि गुणो
न स्यात्तत्कारूपस्यैकवर्णस्य व्यवधानेन सार्वधातुकाऽव्यवहितत्वाऽभावादित्या-
शङ्क्य समाधत्ते—‘येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि भवति’ इति । यद्वर्णकर्तृकव्यव-
धानशून्यत्वं न सम्भवति तद्वर्णव्यवधानेऽपि भवतीति तदर्थः । तथाच सूत्रसार्थ-
क्यायैकवर्णव्यवधाने प्रवृत्तावप्यनेकवर्णव्यवधानेऽप्रवृत्त्या ‘भेत्ता’ इत्यत्र गुणो जातः,
भिनत्तीत्यादौ तदभावश्च । “दीधीवेवीटाम्” इत्यत्रत्येद्ग्रहणस्यवात्र ज्ञापकत्वम् ।
एवञ्च अस्मिन्निषेधसूत्रे गुणाऽभावार्थमेवेतो ग्रहणम्, उक्तरीत्या गुणाऽभावोपपाद-
नेन व्यर्थमेवेतो ग्रहणं; ज्ञापिते सूक्तार्थे सर्वं समञ्जसमिति दिक् ।

प्रश्नः—भवतात् इत्यत्रापवादभूतस्यापि “ङिच्च” इत्यस्य कथ-
मुत्सर्गेण बाधो दर्शितः तत्सङ्गतार्थतां प्रदर्शयत ।

उत्तरम्—‘परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः’ इति परापेक्षयापवा-
दस्य प्रबलत्वात् भवतादित्यादिषु “ङिच्च” इत्यन्तादेशत्वमेव युक्तमिति चेद्, सत्यम् ।
तथापि अन्तादेशत्वादन्यार्थशून्येषु आनङादिषु चरितार्थो “ङिच्च” इति विधिः,
द्विष्टादित्यादौ लघूपधादिगुणनिषेधेन, स्तुतात् युतादित्यादौ “बुतो वृद्धिर्लुकि हलि”
इति विहिताया वृद्धेर्निषेधेन उष्टादित्यत्र सम्प्रसारणेन च सम्भवत्प्रयोजने तातङो
ङकारे मन्दं मन्दं प्रवृत्तः सन् परेणोत्सर्गसूत्रेण बाध्यते ।

ननु तातङ्विषये “ङिच्च” इतिविधिर्मन्दं प्रवर्तताम्, तथापि पूर्वोक्तपरिभाषया
परस्यापि सर्वादेशविधेरपवादभूतेन “ङिच्च” इत्यनेन बाध एवोचितः । सत्यम् ।
तथापि इहोत्सर्गापवादोर्द्धयोरपि सम्बलत्वम् । अपवादशास्त्रस्य हि परनित्या-
न्तरङ्गापेक्षया प्राबल्ये निरवकाशत्वमेव बीजम् । तेन “ङिच्च” इति विधिः आन-
ङादिङित्वमन्तादेशत्वैकप्रयोजनकं प्रयोजनान्तरविरहेण निरवकाशत्वात् सति परि-
गृह्यन् कृतार्थतामनुभवन् तातङो ङित्वं प्रयोजनान्तरसत्त्वेन सावकाशत्वादुपेक्षते

प्रश्नः—यासुटो डित्करणेन 'भूयात्' इत्यत्र गुणाभावरूपस्य फलस्य सत्वेऽपि कथं "डित्वोक्तेः" इत्यादिग्रन्थेन प्रतिपादितो दीक्षिताभिप्रायः सङ्गच्छते । कथं वा डित्वोक्तिं परित्यज्य शानचः शित्वमाश्रितमित्युदाहरणपुरस्सरं लेखसौष्ठवेन व्याख्येयम् ।

उत्तरम्—भूयादित्यत्र यासुटो डित्वस्य गुणाभावरूपं न फलं, गुणाभावस्य लिङो डित्वेनैव सिद्धत्वात् । 'यदागमा' इति न्यायेन यासुडागमो लिङादेशपरस्मैपदावयवः । अयमेव कृतं डित्वमानर्थक्यात्तदङ्गन्यायेन समुदाये आगमविशिष्टतिबादौ विश्राम्यति, ततश्च स्थानिवत्त्वेनैव डित्वसिद्धेर्यासुटो डित्वविधिव्यर्थः । न च स्थानिभूतलिङो ङकारस्याल इत्येन गुणनिषेधविधावाश्रयणादनलिवधाविति निषेधः शङ्क्यः । "धुमास्थानापाजहातिसां हलि" इति "क्ङिति" विहितस्य ईत्वस्य "नल्यपि" इति निषेधेनानुबन्धकार्येऽनलिवधाविति निषेधाभावज्ञापनादतो दीक्षिताभिप्रायः सङ्गत एव । ननु कचिदनुबन्धकार्येऽप्यनलिवधाविति निषेध इत्यत्र यासुटो डित्ववचनं ज्ञापकं भवितुं नार्हति । अनुबन्धकार्ये सर्वत्रानलिवधाविति निषेधाभावे सत्यपि यासुटो डित्वस्य तिप्सिप्मिबागमयासुटो डित्वार्थमावश्यकत्वात् । नहि लिङादेशत्वेऽपि तिप्सिप्मिपां डित्वं स्थानिवत्त्वलभ्यम् । "हलः दनः शानज्झौ" इति सूत्रभाष्ये "ङिच पिन पित्च ङिन्न" इति प्रपञ्चितत्वात् । अत एव व्यादित्यादौ विशेषविहितेन डित्वेन पित्वस्य बाधात् "ङतो वृद्धिर्लुकि हलि" इति न प्रवर्तते इत्यपरितोषात् डित्वोक्तिं परित्यज्य शानचः शित्वमाश्रितम् ।

प्रश्नः—यासुटो डित्करणस्य प्रयोजनं निरूपय ।

उत्तरम्—"न ल्यपि" इति सूत्रेणाऽनुबन्धकार्ये कर्तव्ये "अनलिवधौ" इति निषेधो न प्रवर्तते इति ज्ञापितेन स्थानिवत्त्वात् लिङवृत्तिडित्वधर्मस्यानयनेन डित्वप्रयुक्ते कार्ये सिद्धे "यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच" इति सूत्रे ङिङ्प्रहणं व्यर्थमेव । तदेव व्यर्थं सत् "कचिदनुबन्धकार्येऽपि "अनलिवधौ" इति निषेधः प्रवर्तते इति ज्ञापयति । तेन 'वक्ष्यमाणा' इत्यत्र ङीपोऽभावः सिद्ध इति फलम् । न च भाष्ये "पित्च ङिन्न ङिच पिन" इति व्याख्यानानादौपदेशिकत्वेन तिबादिवृत्तिपित्वेन आरोपितो लिङवृत्तिडित्वधर्मो बाध्यते इति "यासुट्" इति सूत्रे ङिङ्प्रहणं सफलमिति वाच्यम् ? "हलः दनः शानज्झौ" इत्यत्र पूर्ववत्स्थानिवत्त्वेन शित्वधर्मस्य आनयनेन सिद्धौ व्यर्थीभूतेन शानज्झटकशकारेण पूर्वार्थस्य ज्ञापितत्वात् ।

प्रश्नः—“अतो येयः” इत्यत्र ‘सार्वधातुके’ इत्यनुवृत्तेः फलं लिख ।

उत्तरम्—“अतो येयः” इत्यत्र सार्वधातुकपदाननुवृत्तौ मध्यपठिता अप-
वादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” इति न्यायात् “अतो येयः” इति शास्त्रम्
“अतो लोप” इत्यस्यैव बाधको भवेत्, न तु “अतो दीर्घो यञि” इति सूत्रस्य ।
एवञ्च ‘चिकीर्ष्याद्’ इत्यत्र इयादेशापत्तिः, भवेदित्यत्र च परत्वाद् “अतो दीर्घो
यञि” इति सूत्रेण ‘दीर्घापत्तिरिति दोषद्वयपरिहारार्थं सार्वधातुकपदानुवृत्तिः
कार्येति दिक् ।

प्रश्नः—“भवेयुः” इत्यत्र “उस्यपदान्तात्” इत्यस्य प्राप्तिः
कश्च वारिता ।

उत्तरम्—‘भवया—उस्’ इति जाते अत्र परत्वान्नित्यत्वाच्च “उस्यपदा-
न्तात्” इति सूत्रं बाधित्वा “अतो येयः” इति इयादेशे ‘भवेयुः’ इति प्राप्तिः ।
वस्तुतस्तु सार्वधातुकसंज्ञानिरपेक्षस्य “उस्यपदान्तात्” इति सूत्रस्यान्तरङ्गत्वेन
पररूपमेव न्याय्यं स्यादिति “अतो येयः” इति सूत्रस्य सार्वधातुकावयवस्य यास्
इत्यस्येयादेशः स्यादिति व्याख्या कार्या । तेन च सलोपस्यापवाद इय् स्यात् ।
न च ‘अतो यास् इय्’ इत्यत्र सस्य कृत्वे यत्वे लोपे च सति यलोपस्यासिद्धत्वात्
गुणे न भवतीति वाच्यम् । सौत्रत्वादिति दिक् ।

प्रश्नः—‘प्रत्यये किम् ? ववश्च, इमां फक्किकां यथार्थं प्रतिपादय ।

उत्तरम्—‘ओग्रश्च छेदने, लिटि णल् द्वित्वं “लिट्यभ्यासस्य” इति अ-
भ्यासरेफस्य सम्प्रसारणम् ऋकारः । उरत् । रपरत्वम् । हलादिः शेषः । ‘ववश्च’
इति रूपम् । “उरत्” इत्यत्र अङ्गस्याधिकारो वर्तते । ततश्चाङ्गावयवभ्यास-
कारस्यात्स्यात्प्रत्यये परे इति सूत्रार्थो भवति । एवञ्चात्वादेशः परनिमित्तो भव-
तीति वकारस्य सम्प्रसारणे कर्तव्ये “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इति सूत्रेण ऋका-
रवृत्तिसम्प्रसारणत्वमकारे अनीय “न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्” इति सूत्रेण वका-
रस्य सम्प्रसारणं न भवति । यदि अङ्गेन प्रत्ययस्याक्षेपो न स्यात्तदा “अचः पर-
स्मिन्” इति सूत्राप्रवृत्त्या वकारस्य सम्प्रसारणं स्यादेव ।

प्रश्नः—आमो मकारस्येत्वाभावं निरूप्य ‘ऊग्रग्रहणसामर्थ्याद्-
न्यस्याप्रयोगे प्रमर्णं दर्शय ।

उत्तरम्—ननु “इजादेश्च गुरुमतोऽनुच्छः” इत्येतत्सूत्रविहिताऽम्घटकमका-

रस्य हल्त्वेन इत्संज्ञा स्यादिति चेद् ? न । आस्धातोः कास्धातोश्च “दयाया-
सश्च” “कास्प्रत्ययादाममन्त्रे छिति” इति आम्विधानसामर्थ्यात् । यद्यत्र मका-
रस्येत्संज्ञा स्यात्तदा आस्धातोः कास्धातोश्चाऽऽम्विधानं व्यर्थं स्यात्तत्रापीत्सं-
ज्ञाया दुर्वारत्वादिति तत्सामर्थ्यादित्संज्ञाऽभावकल्पनेन न प्रकृते काप्यापत्तिः ।
न च मिष्वादन्यादचः परत्वसामर्थ्यादसंजातविरोधिन्यायेन सवर्णदीर्घस्यैव बा-
धोऽस्त्विति वाच्यम् । सवर्णदीर्घबाधापेक्षया इत्संज्ञाबाधस्यैव समुचितत्वात् ।

ननु “कृञ्जानुप्रयुज्यत” इत्यतः कृजोऽनुवृत्त्यैव सिद्धे “आम्प्रत्ययवत्कृजोऽनु-
प्रयोगस्य” इत्यत्रत्यकृजग्रहणं फलाभावाद्भ्यर्थं सज्ज्ञापयति—भवत्यन्यस्याऽऽयनुप्र-
योगः । तेन “कृम्बस्तियोगे सम्पद्यमाने कर्तरि च्विः” इत्यत्र कृशब्दमादाय “कृ-
जो द्वितीया” इत्येतद्व्युत्पन्नकारेण कृज्प्रत्याहाराश्रयणेन कृम्बस्तीनामनुप्रयोगलाभः ।
तेषां कृम्बस्तीनां क्रियासामान्यवाचकत्वेनाऽम्प्रकृतीनां क्रियाविशेषवाचित्वेन तद्-
र्थयोरभेदान्वयः सामान्यविशेषयोर्घटो नीलघट इत्यादौ विधेयांशोऽधिकावगाहिशा-
ब्दबोधस्य नवीनैरभ्युपगमात् । नघोक्तरीत्या कृम्बस्तिलाभे सम्पदोऽपि प्रत्याहारा-
न्तर्गतत्वेन लाभात्कुतो न प्रयोग इति वाच्यम् । तस्य तथात्वेऽपि अनन्विताश्र-
त्वेन अप्रयोगात् । तथा च—एधाञ्चक्रे इत्यादित एककर्तृकभूतानघतनपरोक्षकालिक-
वृद्धयभिन्नक्रियेति शाब्दबोधः ।

प्रश्नः—‘इन्दाञ्चकार’ इत्यत्रापि कुतो न तडिति साधु वदत ।

उत्तरम्—नन्विदाञ्चकारेत्यादौ परगामिनि क्रियाफले “आम्प्रत्ययवत्”
इति सूत्रेण मास्त्वात्मनेपदम् ‘इदि परमैश्वर्यं’ इति धातोः परस्मैपदित्वेनात्मनेप-
दाभावात् । आत्मगामिनि तु क्रियाफले “स्वरितजित” इत्यात्मनेपदं दुर्वारम् ।
अस्य सूत्रस्य एधाञ्चक्रे इत्यादौ परगामिनि क्रियाफले आत्मनेपदस्याप्राप्तस्य वि-
धान एव समर्थतया तत्रात्मनेपदस्य निवारणे सामर्थ्याभावात् इति प्रष्टुराशयः ।
उत्तरयितुस्तत्त्वमाशयः—अस्मिन् सूत्रे “पूर्ववत्सनां” इति पूर्वसूत्रात्पूर्ववदित्यनुव-
र्त्य “आम्प्रत्ययवत्कृजोऽनुप्रयोगस्य” इत्येकं वाक्यं, “पूर्ववत्कृजोऽनुप्रयोगस्य” इति
द्वितीयं वाक्यम् । तत्र पूर्ववदिति तृतीयान्ताद्वृत्तिः । पूर्वेण पूर्वप्रयुक्तेन एधादिधातुना
तुल्यमित्यर्थः । तत्र वाक्यद्वयस्य समानार्थकत्वे वैयर्थ्यात् द्वितीयं वाक्यं नियमार्थं
सम्पद्यते पूर्ववदेवात्मनेपदं न तु तद्विपरीतमिति । एवञ्च पूर्ववाक्येन एधाञ्चक्रे इत्या-
दौ कृजः परगामिन्यपि क्रियाफले आत्मनेपदविधिः, द्वितीयवाक्येन तु हृदाञ्चकारे-

त्यादा कर्तृगामिनि क्रियाफले “स्वस्तिजित” इत्यात्मनेपदस्य निवृत्तिः क्रियते ।

प्रश्नः—“एकाच्च उपदेशेऽनुदात्तात्” इति सूत्रे एकाच्प्रहणस्य प्रयोजनमुपपादय ।

उत्तरम्—ननु ऊहदन्तैरित्यादिना परिगणितानामनुदात्तोपदेशधातूनामेका-
च्त्वाव्यभिचारादेकाज्प्रहणं मास्तु । ‘उपदेशेऽनुदात्तात्’ इत्येवास्तु । एतावतैव
कर्तृ चकृषे इत्यादाविड्निषेधसिद्धेरिति प्रष्टुराशयः । उत्तरदित्तोस्त्वयमाशयः ।
यद्भुक्ति चर्करितेत्यादौ इण्निषेधव्यावृत्तये एकाज्प्रहणम् । न च कृतेऽप्येकाज्प्रहणे
कथं यद्भुल्लग्न्यावृत्तिः । कृते द्वित्वेऽनेकाच्त्वेऽपि धातूपदेशे एकाच्त्वादिति वाच्यम् ।
“वितपाशपाऽनुबन्धेन” इत्यादिकारिकया तन्निषेधात् । एवञ्च व्यर्थीभूतेनानेनैका-
ज्प्रहणेनैव ज्ञाप्यते । न च वितपाशपाद्यंशे कथमिदं ज्ञापकमिति शङ्क्यम् । एकदे-
शानुमतिद्वारा सर्वत्र ज्ञापनस्य “उपपदमतिङ्” इत्यादौ दृष्टत्वात् ।

प्रश्नः—‘आदेशश्चेह वैरूप्यसम्पादक एव गृह्यते, शसिद्धोः
प्रतिषेधवचनाज्ज्ञापकात् इयं फक्किका व्याख्येया ।

उत्तरम्—“अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि” इति सूत्रेऽनादेशादेरिति पदे
आदेश आदौ यस्य स आदेशादिः न आदेशादिरनादेशादिस्तस्येति समासे जाते
आदेशपदेन यो हि वैरूप्यस्य रूपान्तरस्य सम्पादकः—कारकः, स एव ग्राह्यः ।
यथा—‘जगाद्’ इत्यत्र गकारस्य जकारादेशो भवति । तत्र गकारस्यान्यद्रूपं जा-
यते । तथा च दधधात्वादौ दकारस्य दकाररूपादेशे जातेऽपि एत्वाभ्यासलोपौ
भवत एव । प्रमाणञ्चात्र “न शसददवादिगुणानाम्” इति सूत्रे एत्वप्रतिषेधार्थं
शसिद्धोः पाठः । अन्यथा आदेशपदेन यदि सामान्यादेशस्य ग्रहणं स्यात्तदा
शसिद्धोरपि “अभ्यासे चर्च” इति सूत्रेण शकारस्य शकाररूपादेशो दकारस्य
च दकाररूपादेशो भवत्येवेति तत्रैत्वविधायकसूत्राप्रवृत्तौ निषेधकशास्त्रे तयोः
पाठो निष्फल एव ।

प्रश्नः—षोपदेशकारिका व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—षोपदेशान् संगृह्णाति—सेक्-सृप्-सृ-स्तृ-सृज्-स्तृ-स्त्याऽन्ये द-
न्त्याजन्तसादयः । एकाच्चः षोपदेशाः ष्वल्-स्विद्-स्वद्-स्वल्-स्वप्-स्मिळः ॥
इति । सेगिति—दन्त्याजन्तसादयः एकाच्चः षोपदेशाः स्युरित्यन्वयः । दन्त्यश्च
अच्च दन्त्याचौ तौ अन्तौ अव्यवहितपरो यस्य स दन्त्याजन्तः, तथाविधः सः—

सकार-आदियेषां ते दन्त्याजन्तसादयः । दन्त्यपरकोऽचपरकश्च यः सकारस्तदाद्य एकाचो धातव इदानीं कृतसत्वात्सकारादित्वेन परिदृश्यमाना अपि एकारादित्वे-
नोपदिष्टा इति प्रत्येतव्या इत्यर्थः । नन्वेवं सेकप्रभृतीनामपि षोपदेशत्वं स्यात् ,
आद्यानां चतुर्णामचपरकसादित्वादन्त्यानाञ्च त्रयाणां दन्त्यपरकसादित्वादतः सेक-
प्रभृतीन्वारयति । नन्वेवमपि ष्वगादीनामसङ्ग्रहः स्यात् , एषु सकारस्य दन्त्या-
चपरकत्वाभावात् , अतस्तान्संगृह्णाति-ष्वगित्यादिना । अत्र दन्त्यपदेन केवल-
दन्त्यो गृह्यते, न तु दन्त्योष्ठजोऽपि ष्वकादीनां पृथग्ग्रहणाज्ज्ञापकात् ।

प्रश्नः—“तस्मान्नुङ् द्विहल्ः” इति सूत्रे ऋकारैकदेशस्य रेफस्य
हलत्वेन ग्रहणे द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलपलक्षणत्वे च प्रमाणं प्रदर्शयत ।

उत्तरम्—“तस्मान्नुङ् द्विहल्ः” इति सूत्रे ऋकारैकदेशस्य रेफस्य हलत्वेन
ग्रहणे इदं प्रमाणम्—‘एओङ्’ ‘ऐऔच्’ इति हि सूत्रभाष्ये “ब्रुद्विवधिलादेशविना-
मेषु ऋकाग्रहणं कर्तव्यम्” इति प्रतिपाद्य ‘वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते’ इति सम-
र्थितम् । इदमेव च तत्र मानम् । द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलपलक्षणत्वे च द्विग्रहणमेव
प्रमाणम् । अन्यथा हल् इत्येव विदध्यात् । आत आटेत्यादौ एकहल्धातुषु तु न
दोषः “अद्वनोतेद्वच” इति नियमात् तस्मादुक्तार्थे प्रमाणं प्रदर्शितम् ।

प्रश्नः—‘उवोख्’ इत्यत्रामोऽभावं निरूप्य ‘ऊखतुः’ इति रूपं शङ्का-
निरासपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—उखधातोः “परोक्षे लिट्” इति लिटि, तिपि णलि, द्वित्वे, अ-
भ्यासकार्ये कृते ‘उ उख् अ’ इति भूते “पुगन्तलघूपधस्य च” इति गुणे “अभ्या-
सस्यासवर्णे” इत्युवळि ‘उवोख्’ इति जायते । न च अत्र इजादिगुरुमत्वात् आम्
स्यादिति वाच्यम् । सन्निपातपरिभाषाविरोधात् । तथाहि—आर्धधातुकाव्यव-
हिताङ्गावयव इक् इत्याकारकसम्बन्धेन जायमानो गुणादेशो गुरुमत्वेन इगार्धधातु-
कयोर्मध्ये पठित्यतः आम्प्रत्ययस्य निमित्तं न स्यात् ।

उखधातोः “परोक्षे लिट्” इति लिटि, लिटस्तसि, “परस्मैपदानां णलुतसुस्थ-
ल०” इत्यादिना अतुसि द्वित्वे अभ्यासकार्ये उ उख् इति स्थितेऽङ्गाधिकास्त्वात्
“धाणांदाङ्गं बलीयः” इति परिभाषया “पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिर्भवति” इति युक्त्या
पूर्वं ह्रस्वो भवति ततो दीर्घः । दीर्घे च कृते “लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते” इति
न्यायात् पूर्वान्तवद्भावेनैकादेशे प्राप्तो ह्रस्वो न भवति । परत्वाच्चेत्यस्यायमाश-

यः—“अकः सवर्णे दीर्घः” इति सूत्रस्य परत्वान्नम परकालेन प्रवृत्तत्वात् । तथाच “ह्लादिः शेषः” इति सूत्रात्पूर्वं ह्रस्वस्ततः ह्रस्वोपस्ततो दीर्घः । एवञ्जैकस्मिन् काले ह्रस्वदीर्घयोः प्रवृत्त्यभावेन “वाणादाङ्गम्” इति परिभाषाया विषय एव नास्तीति दीर्घे कृते ‘लक्ष्ये लक्षणम्’ इति न्यायाद्भ्रष्टत्वाभावः ।

प्रश्नः—“विव्यतुः” इति शङ्कानिरासपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—अजधातोः “परोक्षे लिट्” इति लिटि, “लिट् च” इति आर्धधातुकसंज्ञायाम् “अजेर्व्यञ्जनपोः” इति बीभावे सति लिटोऽनुसि “लिटि धातोरनभ्यासस्य” इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् अभ्यासकार्यं च कृते “असंयोगालिट् कित्” इति लिटिः कित्वाद्गुणाभावे ह्रस्वपवादे “एरनेकाच” इति यणि “विव्यतुः” इति रूपम् । नन्वत्र द्वितीयवकारस्य यकारात्मकहल्परकत्वात् “उपधायाञ्च” इति इकारस्य दीर्घः स्यादिति चेद् ? न । ईकारस्थानिकस्य यकारस्य “अचः परस्मिन्” इति स्थानिवत्त्वेन हल्परत्वाभावात् । न च “न पदान्त” इति स्थानिवद्भावस्य निषेधः । स्यादिति शङ्क्यम्, “स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाज्जादेश एव न स्थानिवत्” इत्युक्तेः ।

प्रश्नः—क्रादीनां चतुर्णां ग्रहणस्य नियमार्थत्वमुपपाद्य नियमाकारः स्पष्टमुपपादनीयः ।

उत्तरम्—ननु “ह्रस्वम्” एषां त्रयाणामनुदात्तत्वात् “एकाच् उपदेशेऽनुदात्तात्” इत्यनेन वृज उदात्तत्वात् “अथुकः किति” इत्यनेन थलोऽकित्वात् “अथुकः किति” इत्यस्याप्रवृत्त्या ‘ववर्य’ इति वेदे निर्देशाच्च सर्वत्रैवेग्नियेपेथे सिद्धे चतुर्णां ग्रहणं व्यर्थं सत् “एकाच् उपदेशेऽनुदात्तात्” इति प्रकृत्याश्रयेण “अथुकः किति” इति प्रत्ययाश्रयेण च लिटीग्निषेधश्चेत्तर्हि क्रादिभ्यश्चतुर्भ्य एवेति नियमयति । वृजस्तु वेदे एवेति च । तेनान्येषां धातूनां लिटीट्, लोके ‘ववरिथ’ इति च फलद्वयं सिद्धयति । स्त्वादीनां चतुर्णां ग्रहणं तु विधित्वसम्भावनया भारद्वाजमतेन ऋदन्तातिरिक्तस्त्वादीनां थलीङागमः प्राप्नोति तन्निषेधार्थम् । वमादिषु क्रादिनियमेन प्राप्तस्येङागमस्य निषेधार्थञ्चेति विध्यर्थमेव । तथाहि—क्रादिनियमात् क्राद्यन्येषां धातूनां लिटीट्प्राप्तौ अजन्तानाम् “अचस्तास्त्वथल्यनितो नित्यम्” इत्यनेन अकारवताञ्चोपदेशे “अत्वतः” इत्यनेन थलीग्निषेधे सिद्धे “ऋतो भारद्वाजस्य” इति सूत्रं व्यर्थं सत् अजन्तार.मकारवताञ्च थलीग्निषेधश्चेत्तर्हि

ऋदन्तानामेवेति सामान्यापेक्षया नियामकम् । तेन थलि ऋदन्तादन्येषां धातूनां भारद्वाजमतेनेदि, अन्येषामाचार्याणां मते इडभावे च पेचिथ पपकथ विवयिथ वि-
वेथेत्यादिस्थलेषु द्वे द्वे रूपे सिद्ध्यतः । नच भारद्वाजनियमेन स्त्वादीनामपि थलोद्-
स्यादिति वाच्यम् । ‘अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा’ इति परिभाषया
‘अचस्तास्वत्यल्यनिटो नित्यम्’ ‘उपदेशोऽस्त्वतः’ इति सूत्रद्वयेन प्राप्तस्यैवेणि-
षेधस्य भारद्वाजनियमस्य निवर्तकत्वात् । ऋादिनियमेन स्त्वादिग्रहणम् ‘अचस्ता-
स्वत्’ इति ‘उपदेशोऽस्त्वतः’ इति सूत्रद्वयच्चेणिवार्थं वर्तते । तथाच-यथा
भारद्वाजनियमेन ऋदन्तातिरिक्तधातुषु सूत्रद्वयं न प्रवर्तते, तथैव स्त्वादिग्रहणमपि
न प्रवर्ततामिति न शङ्क्यम् । ‘अनन्तरस्य’ इति न्यायादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘संज्ञायाः कार्यकालत्वात्’ इति कारिका व्याख्येया ।

उत्तरम्—शास्त्रेऽस्मिन् ‘कार्यकालं संज्ञापरिभाष-
यम्’ इतिपक्षद्वयमप्यस्ति । तत्र कार्यकालपक्षपातिमाधवमतं तावद्वयाचष्टे—संज्ञाया
इत्यादिना । ‘सन्वल्लघुनि’ ‘दीर्घो लघोः’ इति सूत्रद्वये अङ्गस्येति अभ्यास-
स्येति चानुवर्तते । तेनाङ्गस्य ये द्वे तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञकस्तस्येति फलितम् ।
द्वे इत्यत्र च उच्चारणे इति विशेष्यसमर्पकमध्याह्रियते । तथोगादङ्गस्येति कर्मणि
षष्ठी । तेन यत्र कृत्स्नमङ्गं द्विरुच्यते न तु तदेकदेशमात्रं तत्रैव पूर्वस्य दीर्घसन्वद्भावौ
स्त्व इति । एवञ्चाङ्गस्य एकाचकत्वे सत्येव तयोः प्रवृत्तिः, न त्वनेकाचकेषु चकास्त्य-
र्थापयत्यूर्णोत्यादिषु । अत्र ण्यन्तेभ्य पभ्यश्चङि कृत्स्नमङ्गं न द्विरुच्यते, अपि तु
हलादेः प्रथमावयवोऽजादेस्तु द्वितीयावयवो द्विरुच्यते । एवञ्चैतेषां अचचकास्त्य-
आर्हत्यपत् । और्णुनवत् इत्येव रूपाणि भवन्ति ।

नन्वेवं ह्रस्वहलादिः शेषश्चुत्त्वादीन्यपि अनेकाक्षु न स्युः । नचेष्टापत्तिः ।
दिदिरिद्रासति, जिगणयिषतोत्यादि लक्ष्यस्य सर्वसम्मतत्वात् । तन्निर्वाहार्थं यथो-
द्देशपक्षाश्रयत्वात् आह—वस्तुत इति । अङ्गस्येत्यलयावयवषष्ठीत्वाद्भावयवा-
भ्यासस्येति लभ्यते । ततश्च ऊर्गणि ण्यन्ते चङि नु इत्येकदेशस्यापि द्वित्वे और्णुन-
वदित्यत्र ‘दीर्घो लघोः’ इत्यभ्यासदीर्घो भवति । अर्थमाचष्टे इत्यर्थं णिच्यापुगाग-
मोऽर्थापिधातोश्चङि णिलोपे उपधाह्रस्वे थप् ह्रस्वस्य द्वित्वेऽपि दीर्घस्य ‘सन्वत्’
इतीत्वस्य च प्रवृत्तौ आर्तिथपदित्येवरूपं भवतीति जानोम इति तृतीयश्लोकार्थः ।

अङ्गस्यावयव इति पक्षेऽपि चकास्तौ विशेषमाह—चकास्ताविति । उभ-

अमिदमित्यस्य दीर्घः सन्वच्चेत्येतद् द्वयमित्यर्थः । न स्यात्स्याच्च व्यवस्थया-
व्यवस्थया पक्षभेदेनेत्यर्थः । चङ्परे णौ यल्लङ्विति व्याख्याने न स्यात् । चङ्परे
णौ यदङ्गमिति व्याख्याने तु स्यात् । एवञ्च अचचकसत् अचोचकासदिति व्या-
ख्याभेदेन रूपद्वयमित्यर्थः । नन्वस्मिन् व्याख्याने भेदे किं प्रमाणमित्यत आह—
इति व्याख्याविकल्पस्येति । ननु णौ इत्यस्यावृत्तिमभ्युपगम्याऽग्लोपेऽपि तद-
न्वयः किमर्थं इत्यत आह—एरग्लोपेऽपीति । अगितामपीति—कमु कान्ता-
वित्यादीनामपीत्यर्थः । सिद्धये—दीर्घसन्वद्भावसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । अन्यथा कमु-
प्रभृतीनामुकाराद्यनुबन्धलोपमादायाग्लोपित्वादीर्घसन्वद्भावौ न स्यातामित्यलम् ।

प्रश्नः—‘कथं उद्ध्यति’ इति शङ्कासमाधानपूर्वकं लिख ।

उत्तरम्—ननु अयधातुरात्मनेपदे पठित इति शानच्प्रत्ययस्यैव युक्तत्वेनो-
दयतीति शतृप्रत्ययान्तप्रयोगः कथमिति चेद् ? न । कटीत्यत्र प्रबिलष्टस्य ईधातोः
प्रयोगस्य सत्त्वात् । अथवा चक्षिङ्धातौ इकाररूपानुदात्तस्वरेणैवात्मनेपदे सिद्धे
ङकारोपादानं व्यर्थं सद् “अनुदात्तेत्वनिमित्तकमात्मनेपदमनित्यं भवति” इति
बोधयति । तेन अयधातोरनुदात्तत्वेऽपि उक्तवचनेन शतृप्रत्ययस्य सिद्धिरिति स्वांशे
धारितार्थम् । अन्यत्र फलन्तु ‘स्फायन्’ इत्यत्र अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदस्याभाव-
इति दिक् ।

प्रश्नः—चिण्प्रत्ययान्तक्रियायां सर्वत्र तृतीयान्तस्य कर्तृरन्वयो
दृश्यते, एवं सति ‘अप्यायि तरुहस्तोऽसौ’ इत्यत्र असौ इत्यस्य अ-
प्यायि इत्यत्र अन्वयः कथं सङ्गच्छते इति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—यत्र चिण्प्रत्ययो भावकर्मणोर्विधीयते तत्रैव कर्ता तृतीयान्तो
भवति, प्रत्ययेन भावकर्मणोरुक्तत्वात्कर्तृश्रानुक्तत्वात् अनुक्ते कर्तरि तृतीयाविधा-
नात् । ‘अप्यायि तरुहस्तोऽसौ’ इत्यत्र तु “दीपजन” इत्यादिना कर्तयैव चिण्वि-
धानेन कर्तुरभिहितत्वात्प्रथमैव युक्ता । अतोऽसाविति पदस्य नासङ्गतिः ।

प्रश्नः—‘घस्लृ-अदने’ अस्य प्रयोगः कस्मिन् लकारे भवति क-
स्मिन् लकारे नेति सप्रमाणं लिख ।

उत्तरम्—घस्लृ-अदने अस्य न सर्वत्र प्रयोगः । यद्ययं सार्वत्रिकः स्यात्
तदा लिट्यपि प्रयुज्येत । ततश्च ‘अद भक्षणे’ इति धातोः “लिट्यन्यतरस्याम्”
इति घस्लृभावविधिर्बोधः स्यात् । ननु असार्वत्रिकत्वे सति क प्रयोगः क नेति

चेद् ? यत्र घसलृधातोः प्रयोगे ज्ञापकं प्रत्यक्षवचनं वास्ति तत्रैवास्य प्रयोगः ।
यथा—भ्वादिगणे अत्रैव क्रमे अस्य पाठः अपि परस्मैपदे प्रयोगे लिङ्गमित्यर्थः ।
न च धातुसंज्ञार्थः पाठः इति शङ्क्यम् , ध्रुत दीसावित्यतः प्राक् पाठेनैव सिद्धे
अत्र क्रमे तत्पाठवैयर्थ्यात् । लकारोपादानम् अङ्गि प्रयोगं बोधयति । अनिट्का-
रिकासु पाठो बलाच्चाधधातुके प्रयोगं बोधयति । “सृघस्यद्ः कमरच्” इति सूत्रं
कमरच्प्रत्ययविषये प्रयोगो भवतीति बोधयति । एवञ्च—लिङ्गवचनाभावादा-
शिष्यस्याप्रयोगः ।

प्रश्नः—स्यन्दूप्रसूत्रवणे धातोर्लृटि प्रथमपुरुषैकवचने शङ्कानिरास-
पूर्वकं रूपं प्रसाधय ।

उत्तरम्—ननु लृटि स्ये सति “वृद्धयः स्यसनोः” इति परस्मैपदपक्षे परत्वा-
दुदिलक्षणमिड्विकल्पं बाधित्वा “न वृद्धयश्चतुर्भ्यः” इति इग्निपेधे स्यन्तस्यती-
त्येव रूपमिष्यते, न तु स्यन्दिष्यति इति । तदयुक्तम् , अन्तरङ्गतया ऊदिलक्षण-
स्यैव इड्विकल्पस्य उचितत्वात् सकारादिविशेषापेक्षतया तजानाभावनिमित्ता-
पेक्षतया च “न वृद्धयश्चतुर्भ्यः” इति निषेधस्य बहिरङ्गत्वादिति चेद् , न । “वृद्धयः
स्यसनोः” इति परस्मैपदे कृते ऊदिलक्षणमन्तरङ्गमपि विकल्पं बाधित्वा “न
वृद्धयश्चतुर्भ्यः” इति निषेधः, चतुर्गृहणसामर्थ्यात् । यदि ह्यत्र ऊदिलक्षण इड्वि-
कल्प एव स्यात् , न तु “न वृद्धयश्चतुर्भ्यः” इति निषेधः, तर्हि चतुर्भ्यः इति
व्यर्थं स्यात् । न च कूपूर्व्यावृत्तिस्तत्फलमिति शङ्क्यम् , “तासि च कलृपः” इति
चकारेण सकाराच्चाधधातुकेऽपि नित्यमिग्निपेधप्रवृत्तेर्बक्ष्यमाणत्वात् । तथाच चतुर्ग-
हणं चतुर्णामपि सर्वत्र इग्निपेधार्थमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘मत्स्योदके अनुष्यन्देते’ इत्यत्र षत्वं कथमिति ब्रूत ।

उत्तरम्—ननु ‘मत्स्योदके अनुष्यन्देते’ इत्यत्र कथं षत्वं प्राणिकर्तृकत्वस्या-
ऽपि सत्त्वादिति चेदुच्यते—अप्राणिषु इति पर्युदासात् मत्स्योदके अनुष्यन्देते इत्य-
त्रापि पक्षे षत्वं भवत्येव । प्राणिकर्तृकस्य नेति न प्रतिषेधः, येनात्र प्राणिकर्तृकत्व-
स्यापि सत्त्वात् षत्वं न स्यात् । किन्तु प्राणिभिन्नकर्तृकस्येति पर्युदास आश्रीयते ।
एवञ्च प्राण्यप्राणिकर्तृकस्यापि अप्राणिकर्तृकत्वानपायादिह षत्वं निर्बाधमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘कमलवनोद्धाटनम्’ अत्र शङ्कासमाधानं निरूपयताम् ।

उत्तरम्—ननु धातुपाठेऽर्थनिर्देशस्योपलक्षणत्वादर्थान्तरवृत्तेरपि घटधातोर्ध-
टादिकार्थं भवत्येव, अत एव घटयति विघटयतीत्यादावपि—संश्लेषयति विश्लेष-

यतीत्याद्यर्थेऽपि ह्रस्वः प्रवर्तते । एवञ्च विकपनाथेऽपि उद्धाटनमित्यादिषु घःधातो-
र्णौ मित्वात्-ह्रस्वः स्यादिति शङ्काकर्तुराशयः । समाधित्सोस्तव्यमाशयः—चुरादौ
'घट सहघाते' इति धात्वन्तरम् , तस्य णौ मित्वाभावादुपधाह्रस्वाभावे उद्धाटनं
प्रविघाटयेत्यादि रूपम् । अर्थनिर्देशस्योपलक्षणतया सहघातादन्यत्र विकसनेऽपि
तस्य वृत्तिरिति । न च चौरादिकस्य घट चेष्टायामित्यस्यैवार्थविशेषे मित्वार्थमनु-
वादोऽयमिति वाच्यम् । 'नान्ये मितोऽहेतौ' इति निषेधात् । अहेतौ—स्वायें णि-
चि ज्ञापदिपञ्चकव्यतिरिक्ताश्चुरादयो मितो नेति तदर्थः ।

प्रश्नः—'विव्यथे' इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं प्रसाधय ।

उत्तरम्—व्यथ व्यथ् ए इति स्थिते 'सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति' इति
वचनेन यलोपविषये हलादिशेषलभ्यं यकारस्य लोपं बाधित्वा "व्यथो लिटि"
इति सूत्रेण सम्प्रसारणे थकारस्य "हलादिशेषः" इति लोपे 'न सम्प्रसारणे सम्प्र-
सारणम्' इति निषेधे च कृते 'विव्यथे' इति रूपम् । न च 'अभ्यासविकारे बाध्य-
बाधकभावो नास्ति' इतिवचनेन 'हलादिशेषापवादः' इति ग्रन्थासङ्गतिरिति वा-
च्यम् । "लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्" इति सूत्रे उभयेषां ग्रहणसामर्थ्येन अभ्यास-
लोपविषये उक्तवचनाप्रवृत्तेः ।

प्रश्नः—'विज्ञापना भर्तृषु सिद्धमेति' 'तज्ज्ञापयत्याचार्यः' इत्यत्र
च "मितां ह्रस्वः" इति कस्मान्न प्रवर्तते ।

उत्तरम्—घटादौ मित्वप्रकरणे "मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा" इति पठितम् ।
तत्र निशामनं चाक्षुषज्ञानम् , इति माधवः । अन्ये तु ज्ञापनमात्रम् अर्थमाहुः ।
हरदत्तादयस्तु निशामन इत्यत्र निशानेष्विति पेटुः । निशानञ्च तीक्ष्णीकरणम् ।
एष्वेवाथेषु मित्वं नान्यत्रेत्यनेन नियम्यते । विज्ञापनेत्यत्र तज्ज्ञापयतीत्यत्र च अचा-
क्षुषज्ञानस्यैवात्मज्ञानस्य विवक्षितत्वात् मित्वाभावान्माधवमते ह्रस्वो न प्रवर्तते ।
बोधनमात्रे तु उक्तं रूपद्वयं ज्ञा नियोगे इति चौरादिकस्य बोध्यम् । धातूनामने-
कार्थत्वाच्च तस्य ज्ञापने वृत्तिः । 'नान्ये मितोऽहेतौ' इति निषेधान्न मित्वम् ।
निशानेष्विति हरदत्तादीनां मते तु उक्तप्रयोगयोर्ज्ञापनार्थवृत्तित्वात् ज्ञापनस्य च मा-
रणतोषणतीक्ष्णीकरणान्यत्वात् तस्मिन्नर्थे ज्ञाधातोर्मित्वप्रसक्तिरेव नास्तीति दिक् ।

प्रश्नः—"न कस्यमिच्चमाम्" इत्यता न उत्तरत्रानुवर्तते नवेति
व्याख्येयम् ।

उत्तरम्—स्वामी “न कर्ममिचमाम्” इति सूत्रात् शमो दर्शने इत्यादि-
सूत्रत्रये नञ्पदस्यानुवृत्तिं न करोतीति स्वामिमते—आयामयतीति उदाहरणे आ-
यमयतीति स्यात् । यमयतीति प्रत्युदाहरणे यामयति ब्राह्मणानिति स्यात् । एवम-
वस्स्वादयति परिस्त्वादयतीत्युदाहरणे अवस्त्वादयति परिस्त्वादयतीति स्यात् । प्रत्यु-
दाहरणे च प्रस्त्वादयतीति स्यात् । एवञ्च पर्यवसितं नियमयन्निति प्रयोगः सा-
धुरेव । नञ्पदानुवृत्तौ तु यमोऽपरिवेषणे “स्त्वदिरवपरिम्याञ्च” इति सूत्रद्वये उदा-
हरणप्रत्युदाहरणयोर्व्यत्यासः । इदं च स्वामिमतं वृत्तिन्यासादिविरोधाद्धेयमेव ।

प्रश्नः—भ्राज्धातोर्द्वयत्र पाठे का विशेष इति लिख ।

उत्तरम्—भ्राज्धातोः फणादौ पाठः “फणाञ्च सप्तानाम्” इति सूत्रेण
एत्वाम्यासलोपार्थः । पूर्वं पाठस्तु “ब्रश्चभ्रञ्ज०” इति सूत्रेण प्राप्तस्य षत्वस्य नि-
षेधार्थः । तत्र हि राज्धातुः फणादिर्गृह्यते, तत्साहचर्याच्च भ्राज्धातुरपि फणादिरेव
ग्राह्यः, इति पूर्वपठितभ्राज्धातुविषये षत्वाभावः सिद्ध्यतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘सस्वरिव’ इत्यत्रेडागमः केन भवतीति प्रदर्शय ।

उत्तरम्—“आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः” इत्यादिविधिशस्त्रेभ्यः प्राक् “नेड्व-
शिकृति” “अयुकः किति” इत्यादिसूत्राणां प्रकरणमाचार्येण कृतमिति तत्सामर्थ्येन
परमपि “स्वरतिसूति०” इत्यादिसूत्रं बाधित्वा “अयुकः किति” इति निषेधः प्रा-
प्तस्तमपि बाधित्वा क्कान्नित्यमात्रित्यमिदं भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘प्रणिमयते’ इत्यत्र मारूपाभावात् णत्वं कथमिति ब्रूत ।

उत्तरम्—ननु प्रणिमयत इत्यत्र “नेर्गद्वनद०” इति णत्वं न सम्भवति, शि-
द्धिष्ये आत्वाभावेन मारूपाभावात् । तथा प्रणिमानशब्देऽपि णत्वं न सम्भवति,
तत्र मेळः कृतात्वस्य लाक्षणिकमारूपत्वात् । “गामादाग्रहणेष्वाविशेषः” इत्याश्रित्य
मेळोऽपि कृतात्वस्य णत्वविधौ ग्रहणे तु भीनातिमिनोत्योरात्वे प्रणिमाता
प्रणिमास्यति, इत्यत्रापि नेर्णत्वापत्तिरिति चेद् ? उच्यते । “नेर्गद्वनद०” इति
णत्वविधौ घुमेत्यस्य स्थाने घुप्रकृतिमाङ्गिति पठित्वा तत्र प्रकृतिशब्दस्य घुमाङ्प्र-
कृतिपरत्वमाश्रित्य घौ माङ्धातौ घुमाङ्प्रकृतौ च परतः इति पर्यवसानमाश्रित्य
माप्रकृतेर्जितो मेङ्धातोः कृतात्वस्यापि ग्रहणस्य भाष्यकृता अभ्युपगगतत्वाद् । एवञ्च
प्रणिमयते इत्यत्र नाव्यासः, मेळः कृतात्वमप्रकृतित्वे सति जित्वात् । नापि मीः

नातिमिनोत्योरात्वे प्रनिमाता प्रनिमास्यतोत्यत्र अतिश्यासिः, मारूपस्य क्त्वा-
भावात् । एतच्च युसंज्ञासूत्रे भाष्ये स्थितम् ।

प्रश्नः—‘परिष्करणः’ इत्यत्र णत्वं भवति नवेति युक्तिश्रुतं प्रतिपादयाम् ।

उत्तरम्—‘परिष्करणः’ इति स्थिते “अनिदिताम्” इति नलोपे “रदा-
भ्याम्” इति निष्ठातकारस्य तत्पूर्वदकारस्य च नत्वे सल्यानेन षत्वपक्षे प्रथमनका-
रस्य रेकापेक्षया भिन्नपदस्यत्वेऽपि षात् परत्वात् णत्वे द्वितीयकारस्य ष्टुत्वेन
णत्वे ‘परिष्करणः’ इति रूपम् । ननु दकारस्थानिकनकारस्य षकारनिमित्तकं णत्व-
मन्तरङ्गम्, निमित्तनिमित्तिनोरेकपदस्यत्वात् । षत्वं तु परि इत्युपसर्गात्मकपदा-
न्तरस्थमिणं निमित्तोक्त्य प्रवर्तमानं बहिरङ्गम् । ततश्च णत्वे कर्तव्ये बहिरङ्गस्य
षत्वस्यासिद्धत्वात् षात्परत्वाभावात् कथं णत्वमिति चेद् ? उच्यते । पदद्वयाभ्य-
तया बहिरङ्गस्य षत्वस्यासिद्धत्वं यत्प्रसक्तं तन्नाश्रीयते । “धातूपसर्गयोः कार्यम-
न्तरङ्गम्” इत्यभ्युपगमात् । पूर्वं धातुरूपसर्गेण सह युज्यते-सन्ध्यादिकार्यं लभते ।
पश्चात्-धातूपसर्गकार्यप्रवृत्त्यनन्तरं साधनेन युज्यते । पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते,
पश्चादुपसर्गेण इति पक्षे तु षत्वस्य बहिरङ्गतया असिद्धत्वाच्च णत्वमिति यावत् ।

प्रश्नः—‘विध्याय’ इत्यत्र परत्वात् हलादिशेषेण यकारलोपे सति
वकारस्य सम्प्रसारणं प्राप्तं तत्कया रीत्या वार्यते ।

उत्तरम्—व्यञ् धातोर्लिटि तिपि णलि व्ये अ इति स्थिते “अचो ङिति”
इति वृद्धौ ‘व्यै अ’ इति जाते, ननु तत्र द्वित्वे “लिट्यभ्यासस्य” इत्यभ्यासे यका-
रस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे उत्तरखण्डस्य आयादेशे ‘विध्याय’ इति रूपं भवति, तद्-
युक्तम्, सम्प्रसारणात्प्राक् परत्वात् हलादिशेषेण यकारस्य निवृत्तौ वकारस्य सम्प्र-
सारणे उकारे सति ‘उध्याय’ इत्यापत्तेरिति चेद् ? न । परमपि हलादिशेषं बाधि-
त्वा यस्य सम्प्रसारणम्, उभयेषां ग्रहणसामर्थ्यात् । अन्यथा वच्यादीनां प्रह्लादी-
नाञ्चानुवृत्त्यै सिद्धे किन्तेन । इति स्वादयः ।

अथादादयः ।

प्रश्नः—‘जक्षतुः’ इत्यत्र स्थानिवद्भावः कथं वारित इति लिख ।

उत्तरम्—ननु ‘जबस् अतुस्’ इति स्थितौ “गमहनजनलवमसाम्” इत्युप-
धालोपे तस्य “अचः परस्मिन् पूर्वविभौ” इति २ आनिवृत्तेन व्यवधानात् खरपर-

त्वाऽभावाकृत्वत्वाऽप्राप्त्या जक्षनुरिति न सिद्धयेदिति चेद् ? उच्यते । “न पशान्त-
द्विषेधनः” इति सूत्रेण चत्वं प्रति स्थानिवत्त्वनिषेधात् सर्वमुपपन्नमिति यावत् ।

प्रश्नः—‘जहि’ इत्यत्र “अतो हेः” इति हेर्लुक् कुतो नेति वद ।

उत्तरम्—ननु हन्तेर्लोपि मध्यमपुरुषैकवचने ही तस्मिन् परे “हन्तेर्जः”
इत्यनेन हन्तेर्जादेशे “अतो हेः” इति हेर्लुक् दुर्वार इति चेद् ? उच्यते—“असिद्ध-
वदन्नाभात्” इत्यनेन आभीयतया जन्वासिद्धत्वाद्धर्ने लुक् ।

प्रश्नः—‘चाक्षङ्’ इत्यत्र छित्वादेवात्मनेपदे सिद्धे इकारोच्चारणं
किमर्थमिति ब्रूत ।

उत्तरम्—ननु चक्षिङ् इत्यत्र इकारोच्चारणं व्यर्थम् । न च सुज्ञोच्चारणार्थं
तदिति वाच्यम्, अकारोच्चारणेनैव तसिद्धेः । नाप्यनुदात्तेत्वप्रयुक्तात्मनेपदार्थं
तदिति शक्यं वक्तुम्, छित्वादेव तत्सिद्धेरिति चेद् ? न । “अनुदात्तेतश्च ह्लादेः”
इति हलुपवाद्युच्प्रत्ययार्थत्वात् । ततश्च ‘विचक्षणः’ इति प्रयोगः सिद्धयति,
नुम् तु न भवति । यत्र धातौ इकारोऽन्तावयवो भवति तत्रैव “इदितो नुम् धा-
तोः” इत्यनेन नुम्भवतीति व्याख्यानात् । एवञ्च इकारस्यानुदात्तत्वात् “अनुदात्त-
छित् आत्मनेपदम्” इत्यनेनानुदात्तेनमित्तके आत्मनेपदे सिद्धे इकारोपादानं व्य-
र्थमेव । तदेव व्यर्थं सत् ‘अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्’ इति ज्ञापयति ।
तेन स्फायन्निति प्रयोगे शतृप्रत्ययस्य सिद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—‘अत्र भाष्ये ख्शादिरयमादेशः’ इयं फक्किक्का व्याख्येया ।

उत्तरम्—अत्रेदं तात्पर्यम्—‘चक्षिङः ख्याञ्’ इत्यनेन न चक्षिङः ख्याञा-
देशः, किन्तु ख्शाजादेश एव, तेन पुंख्यानमित्यत्र न “पुमः खट्पम्परे” इति खत्व-
मित्यादि हल्सन्धावेवोक्तम् । असिद्धकाण्डे “शस्व यो वा” इति स्थितम् इति
तेन णत्वप्रकरणानन्तरमिति शेषः । अत एव शकारेण व्यवधानात् “कृत्यचः”
इत्यनेन पर्याख्यानमित्यत्र णत्वम् । नापि सुप्रख्येन निर्वृत्तं सौप्रख्यम्, तत्र भवः
सौप्रख्यीयः इत्यत्र यत्वासिद्धत्वेन “धन्वयोपधाद्” इति बुम्, किन्तु छप्रत्यय
एवेति दिक् ।

प्रश्नः—‘युयात्’ इत्यत्र “उता वृद्धिर्लुकि हलि” इति वृद्धिः कुतो
नेति वद ।

उत्तरम्—ननु लिङ्स्थानिकादेशस्य तिरः पितृशक्तस्य च “यशमम”परि-

भाषया यासुट्विशिष्टे सत्वात्तस्मिन् “उतो वृद्धिल्लिङ्गि” इत्यनेन वृद्धिर्द्वारेत्यक्त उच्यते-इह उतो वृद्धिर्न, ‘भाष्ये पिच्च लिङ्ग लिङ्ग पिच्च’ इति व्याख्यानात् । “सार्धधातुकमपित्” इत्यस्यावृत्त्याऽस्य लाभः । न च पूर्ववाक्येन द्वित्वमपि दुर्लभमिति वाच्यम् । विशेषविहितेन द्वित्वेन पित्वस्य बाधादित्यलम् ।

प्रश्नः—‘अभीयात्’ इत्यत्र “एतेलिङ्गि” इति ह्रस्वः कुतो नेति वद ।

उत्तरम्—ननु पूर्वान्तवद्भावेनोपसर्गत्वं परादिवद्भावेन च धातुत्वं वर्तते एवेति “एतेलिङ्गि” इत्यनेनोपसर्गात्प्रत्येणोऽणो ह्रस्वविधानात् ‘अभीयात्’ इत्यत्रापि ह्रस्वो दुर्वार इति चेद् ? न । “उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्” इति वचनेन निषेधात् । यथा द्वयोरेकः प्रेष्यस्ताभ्यां युगपद्भिन्नदेशकायं प्रेरितोऽविरोधार्थी न कस्यापि करोति कार्यन्तद्वत् पूर्वपरशब्दाभ्यामन्तादिशब्दाभ्याञ्च विरोधस्य स्फुटत्वाद्भिरुदात्तिदेशस्य युगपदसम्भव इति तात्पर्यम् । नैतद्विषये स्थानिवद्भावप्रवृत्तिः, आनुमानिकस्थान्यादेशभावे विशिष्टस्य स्थानित्वेऽपि प्रत्येकं तयोः स्थानित्वे मा-नाऽभावात् वर्णयोरेव श्रौतस्थान्यादेशभावविधानाच्चेति दिक् ।

प्रश्नः—‘अध्ययै’ इति यथाशास्त्रं साधय ।

उत्तरम्—ननु पूर्वं धातुरपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेनेत्यभियुक्तोक्त्या अन्तरङ्गत्वाद्गुणादेः प्रागेव सवर्णदीर्घं यणि ‘अध्ययै’ इति न स्यादिति चेद् ? उच्यते । ‘पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण’ इति पक्षस्य “सुट्कात्पूर्वः” इत्यत्र भाष्ये सिद्धान्ततत्वात् पूर्वं गुणयादेशयोः कृतयोपसर्गस्य यण् । ‘पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते’ इति मते तु धातूपसर्गयोः कार्यं पूर्वं स्यादिति अन्तरङ्गत्वात्प्राप्तो दीर्घो “णेरध्ययने वृत्तम्” इति सूत्रे ‘अध्ययने’ इति पदनिर्देशाच्च भवति । यदि पूर्वं दीर्घः स्यात्तदोक्तप्रयोगनिर्देशोऽनुपपन्नः स्यात् ।

प्रश्नः—“अयं सार्वधातुकमात्रविषयः” इत्यस्याशयः स्फुटं वर्णनीयः ।

उत्तरम्—अस्य व्याधातोः सार्वधातुक एव प्रयोगो नत्वाधधातुके इत्यर्थः । अत्र च ‘सत्थानत्वं नमः ख्यात्रे’ इति वार्तिकं नमःख्यात्वात् ‘नमः ख्यात्रे’ इत्यत्र सत्थानत्वं जिह्वामूलीयत्वं न भवतीति व्याख्यानरूपं भाष्यञ्च प्रमाणम् । अत्र हि चक्षुःज्ञायादेशे शस्य यकारे शकारस्थानिकयत्वस्यासिद्धत्वात् ‘शर्पे विसर्जनीयः’ इष्टो विसर्जनीयः सिध्यति, जिह्वामूलीयस्त्वनिष्टो न भवतीति भाष्यवार्तिकद्वयम् । अस्य व्याधातोराधधातुकेऽपि प्रयोगसत्त्वे तु तृजप्ते ख्यातृशब्दे

यकारस्य शकारस्थानिकत्वाभावात् असिद्धत्वाभावात् “शर्षेर विसर्जनीयः” इत्य-
स्याप्रवृत्तौ “कुप्वोः” इति जिह्वामूलीयो दुर्वारः स्यात् । तसश्चार्धधातुके ख्याधा-
तोर्न प्रयोगः इति विज्ञापयते । ज्ञापकस्य सामान्यापेक्षत्वादिति दिक् ।

प्रश्नः—दरिद्राधातोर्लिटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपाणि विविच्य
प्रसाधयत ।

उत्तरम्—दरिद्राधातोर्लिटि दरिद्राञ्चकार, ददरिद्रौ ददरिद्र इति रूपत्रयमुक्तं
ग्रन्थकृता । तत्रार्थं द्वयं न्याय्यं तृतीयन्त्वन्याय्यम् । “कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि”
इति सूत्रभाष्ये दरिद्राधातोराम उक्तत्वात् ‘दरिद्राञ्चकार’ इति न्याय्यम् । “आ-
त औ णलः” इत्यत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावात् ओकार एव विधातुमुचितः ।
वृद्धौ सत्यां तावतैव ‘यथौ’ इत्यादिसिद्धेः । तस्मादौकारविधानं दरिद्राधातोर्णलि
‘दरिद्रातेरार्धधातुके लोपो वक्तव्यः’ इत्यालोपे ‘ददरिद्रौ’ इत्योकारश्रवणार्थं सम्प-
द्यते । ओकारविधाने तु आलोपे सति वृद्धेरसम्भवात् ददरिद्रौ इत्योकार एव श्रू-
यते । अत एव लिटि आम्नेति विज्ञायते । आमि सति णल एवाप्रसक्तेः । इति
“वल्वेकाजादूधसाम्” इति सूत्रभाष्ये ध्वनितं कैयेटेन च स्पष्टीकृतम् । अतो द्वि-
तीयं ददरिद्रौ इत्यपि न्याय्यम् । तृतीयन्तु सुतरामन्याय्यमिति दिक् ।

इत्यदादयः ।

अथ जुहोत्यादयः ।

प्रश्नः—‘पेयः’ इति रूपं प्रसाध्य ‘धत्तः’ एतत् शङ्कानिरासपू-
र्वकं साधय ।

उत्तरम्—ऋधातोर्लिङि तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां “कर्तरि शप्” इति शपि,
“जुहोत्यादिभ्यः ङ्लुः” इति ङ्लौ “ङ्लौ” इति धातोर्द्वित्वे “ङरत्” इति अभ्या-
सस्य ऋकारस्याकारे रपरे “ङ्लादिः शेषः” इति लोपे “अर्तिपिपत्योश्च” इति
अभ्यासस्याकारस्येत्वे “अभ्यासस्यासवर्णे” इतीयङि “माङजादीनाम्” इत्यादि
“आटवच” इति वृद्धौ “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इति गुणे “इतश्च” इतीकार-
लोपे “ङ्लङ्याभ्यः” इति तकारस्य लोपे रेफस्य विसर्गे च रूपम् ।

धत्तः—धाधातोर्लिङि तसि सार्वधातुकसंज्ञायां “कर्तरि शप्” इति शपि
“जुहोत्यादिभ्यः ङ्लुः” इति ङ्लौ “ङ्लौ” इति धातोर्द्वित्वे पूर्वस्य अभ्यास-

संज्ञायां “ह्रस्वः” इति ह्रस्वे “अभ्यासे चर्च” इति धकारस्य दकारे “उभे अभ्यस्तम्” इति अभ्यस्तसंज्ञायां “इनाभ्यस्तयोरातः” इति आकारस्य लोपे “दधस्तथोदच” इति भष्भावे “क्षरि च” इति चत्वे सकारस्य ह्रस्वे विसर्गे च रूपम् । न चात्र “अचः परस्मिन् पूर्वविधौ” इति सूत्रेण आकारस्य स्थानिवद्भावेन झषन्तत्वाभावाद् भष्भावो न स्यादिति वाच्यम् । अत्र भष्भावे कर्तव्ये आलोपो न स्थानिवत्, सूत्रारम्भसामर्थ्यात् । वस्तुतस्तु “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इति परिभाषया त्रिपादित्वे भष्भावे कर्तव्ये सपादसप्तम्यायीत्याकारलोपस्य स्थानिवत्त्वनिषेधात् । परिभाषारूपयुक्त्या कार्यनिर्वाहे सति वचनारम्भाश्रयणत्रिफलमिति दिक्, इति जुहोत्यादयः ।

अथ दिवादयः ।

प्रश्नः—‘अश्लक्षत्’ इति रूपं शङ्कासमाधिपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—श्लिष् धातोर्लुङि तिपि “च्लि लुङि” इति छौ पुषादित्वादङि प्राप्ते “निरवकाशो विधिरपवादः” इति वचनेन अपवादत्वात् “श्लिषः” इति सूत्रेण कसे अनुबन्धलोपे “बडोः कसि” इति षस्य कत्वे कात्परकत्वात् षत्वे अटि च ‘अश्लक्षत्’ इति रूपम् ।

न च “चिण् भावकर्मणोः” इति सूत्रेण प्राप्तस्य चिणोऽपि “श्लिषः” इति सूत्रेण बाधः स्यादिति वाच्यम् । “पुरस्तादपवादव्यायेन पुषाद्यङ एव बाधकत्वात् । एवञ्च “श्लिषः” इति सूत्रेणाऽल्लिङ्गनरूपधात्वर्थे कसे सिद्धे “आलिङ्गने” इति योगविभागेन श्लिष्धातोर्लिङ्गनेऽर्थे एव कसो नान्यत्रेति नियम्यते । तथाच यदि “शल इगुपधादनिटः कसः” इति सूत्रावहितस्य कसस्य “आलिङ्गने” इत्यनेन नियमो न स्यात्तदा पुनरपि योगविभागो व्यर्थ एव, व्यर्थः सन् “शल” इत्यादिसूत्रावहितस्यापि कसस्य नियमं करोति । ततश्चानाल्लिङ्गने ‘समश्लिषज्जतु काष्ठम्’ इत्यत्राह । कर्मणि प्रत्यये तु चिण् सिद्ध्यतीति दिक् ।

प्रश्नः—अमिद्वा स्नेहने धातोर्दिवादौ पाठः किमर्थः ।

उत्तरम्—स्वादौ घृतादिगणे पाठेनैव अमिद्व अमेदिष्ट, इति रूपद्वयसिद्धौ दिवादिगणे पाठोऽमेदीदिति रूपनिवारणार्थः । इत्थञ्च गणद्वये पाठेन यदि रूपद्वयसिद्धिरेवेष्टा तदा घृतादिभ्यः पृथगात्मनेपदिषु स्वादौ पाठेनामेदिष्टेति रूपम् ।

‘पुषादौ दिवादिगणे पाठेन च अमिददिति रूपञ्च सिद्धमभवतीति ध्रुतादिगणे पाठो निष्फल एवेति प्रतिभाति । इति दिवादयः ।

अथ तुदादयः ।

प्रश्नः—‘विष्यच्च’ इत्यत्र सम्प्रसारणं कुतो नेति चद् ।

उत्तरम्—‘व्यचेः कुटादित्वमनसि’ इति वार्तिकं यत्रास्मिन्नः असंसृष्टः कृदन्तीयप्रत्ययः स्यात्तत्रैव लगति । यथा—‘अब्राह्मणमानय’ इत्युक्तौ ब्राह्मणमिन्नं ब्राह्मणसदृशं कञ्जननरमानय कृती भवति न तु लोहकाष्ठादिकम्, तद्वत् । तेन ‘उ-द्विवितुम्’ इत्यादिकृदन्तस्थले कुटादित्वेन “गाङ्गुटादिभ्योऽङ्गित्” इति कित्त्वेन “ग्राह्ज्यावयि” इत्यादिना सम्प्रसारणं सिद्ध्यति । विष्यचेत्यत्र तु तिङन्तत्वेन गित्त्वाभावपक्षे वार्तिकाप्रवृत्त्या सम्प्रसारणाभावः । अन्यथा तत्रापि सम्प्रसारणं स्यात् । साहचर्यञ्च कृदन्तत्वेन ग्राह्यम् ।

प्रश्नः—‘शे तृम्फादीनां नुम् वाच्यः’ मस्यार्थः करणीयः ।

उत्तरम्—‘शे तृम्फादीनाम्’ इति वार्तिके आदिशब्दः प्रकाररूपार्थस्य वाचकः । तथा तृम्फसदृशानां धातूनां नुम् स्यादित्यर्थो भवति । साहचर्यञ्च नकार-युक्तत्वेन गृह्यते । एवं हि नकाररहिततृम्फादिधातुषु नुम्न भवतीत्यलम् ।

प्रश्नः—‘ममङ्क्थ’ इति सम्यक् साधय ।

उत्तरम्—मस्ज्धातोर्लटि सिपि “परस्मैपदानाम्” इत्यादिना थलि, “लि-टि धातोः” इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्याससंज्ञार्था “ह्लादिः शेषः” इति लोपे इडभाव-पक्षे “मस्तिजनशोर्हलि” इति “मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः” इति वचनेन जका-रात्पूर्वं नुमि “स्कोः संयोगाद्योरन्ते च” इत्यादिना सकारलोपे “चोः कुः” इति कुत्वे चत्वे नकारस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते रूपम् । इति तुदादयः ।

अथ तनादयः ।

प्रश्नः—‘सञ्चस्करतुः’ अस्य सिद्धिं शङ्कासमाधिपूर्वकं प्रदर्श्य ‘सञ्चस्करिथ’ इत्यत्र इडागमः कथमिति प्रदर्शनीयः ।

उत्तरम्—सम्पूर्वात्कृधातोः ‘पूर्वं धातुरसर्गेण युज्यते’ इति सिद्धान्तमा-श्रित्य ‘धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्’ इति पूर्वं “सम्परिभ्यां कौतौ भूषणे” इति

छटि संस्कृ इत्यस्माल्लिलटस्तसोऽनुसि स्कृ इत्यस्य द्वित्वे उरदत्वे रपरत्वे “शर्पूर्वाः खयः” इति रेफसकारयोर्निवृत्तौ अभ्यासचुत्वे “ऋतश्च संयोगादेर्गुणः” इति गुणे ‘सञ्चस्करतुः’ इति रूपसिद्धेः । “कात्पूर्वः” “अडभ्यासव्यवायेऽपि” इति च न कर्तव्यमिति भाष्यकाराशयः ।

एवं समस्करोदित्यत्रापि विकरणान्ताङ्गभक्ताडागमापेक्षया अन्तरङ्गत्वात्प्रथमं सुद्धं भविष्यतीति कृत्वा ‘अडव्यवायेऽपि’ इत्यंशो न कर्तव्य इति दिक् ।

ननु सञ्चस्करिव सञ्चस्करिथ इत्यत्र च “कृसृभृवृ” इति “ऋतो भारद्वाजस्य” इति च इग्निषेधः स्यादिति चेद् ? न । “कृसृभृवृ” इत्यत्र “ऋतो भारद्वाजस्य” इत्यत्र च “कृजोऽसृष्ट इति वक्तव्यम्” इति वार्तिकस्य जागरकत्वात् ।

प्रश्नः—‘संस्क्रियात्’ अस्य सिद्धिः प्रदर्शनीया ।

उत्तरम्—सम्पूर्वात्कृधातोः ‘पूर्वं धातुरूपसंगेन युज्यते’ इति सिद्धान्तमाश्रित्यान्तरङ्गत्वात्पूर्वं सुटि तत आशीलिङि तिपि याछाडागमे “रिङ्क्षय” इति ऋकारस्य रिङादेशे याछटः सकारस्य “स्कोः” इति लोपे संस्क्रियादिति रूपम् । न चात्र लकारोपदेशकाले धातोः संयोगादित्वात् “गुणोर्त्तिसंयोगाद्योः” इति गुणः कुतो नेति वाच्यम् । अत्र सूत्रे ‘पूर्वं सुटो विहितत्वेन “नित्यं छन्दसि” इत्यतो नित्यमित्यनुवर्तते । तेन नित्यं संयोगादि—धातूपदेश काले यः संयोगादिः इत्यर्थाद् गुणाप्रवृत्तेः । इति तनादयः ।

अथ क्रयादयः ।

प्रश्नः—‘अबान्धाम्’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं विधेयम् ।

उत्तरम्—बन्धधातोर्लुङि तसि “तत्थस्” इत्यादिना तामि, “च्छि लुङि” इति च्लौ “च्छेः सिच्” इति सिजादेशे अटि “पूर्वत्रासिद्धम्” इति भग्भावात्पूर्वस्मिन् सिजलोपे “क्षषस्तथोर्धोऽधः” इति धकारे “अतो हलादेर्लघोः” इति वृद्धौ ललोपे जडत्वे च रूपम् । नचात्र “एकाचो बशो भप् क्षषन्तस्य लघोः” इति भग्भावः स्यादिति वाच्यम् । “पूर्वत्रासिद्धम्” इति शास्त्रेण भग्भावविधायकस्यासिद्धत्वेन सिजलोपात्सकाराभावात् । न च प्रत्ययलक्षणेन पुनरपि भग्भाव इति वाच्यम् । “प्रत्ययलोप” इति सूत्रमप्रति सिजलोपस्यासिद्धत्वात् ।

प्रश्नः—‘एषिता’ अस्य सिद्धिः प्रदर्शनीया ।

उत्तरम्—इष्धातोर्लुटि 'एष् ता' इति स्थिते, न चात्र "तीषसह" इति सूत्रेण विकल्पेनेट् स्यादिति वाच्यम् । अकारविशिष्टसहधातुसाहचर्येण अकारयुक्त-स्थैवेषेर्ग्रहणात् । इषेस्तकारे इयन्प्रत्ययात्प्रतिषेधाः, इति वार्तिकबलेन यत्र इयन्प्र-त्ययः स्यात्तत्रैषेः पाक्षिकस्येतोऽभावः स्यात् । एवञ्चात्र इड्विकल्पेन रूपद्वयं निर्बाधमेव भवतीति दिक् । इति क्रयादयः ।

अथ चुरादयः ।

प्रश्नः—चितिधातेरिदित्करणस्य णिचः पाक्षिकत्वे ज्ञापकत्वम् , मतभेदेन विशेषापेक्षसामान्यापेक्षत्वयोः प्रमाणञ्च फलप्रदर्शनपुरःसरं सोपपत्तिकं निरूपणीयम् ।

उत्तरम्—ननु चितिधातौ इदित्करणं मास्तु, प्रक्रियालाघवात् 'चिन्त स्मृ-त्याम्' इत्येवोच्यताम् । न च नलोपनिवृत्यर्थमिदित्वमिति वाच्यम् , चिन्तयती-त्यादौ णिचः किङ्त्वाभावादेव नलोपस्याप्रसक्तेः । न च णिजभावे आशोल्लिङि चिन्त्यादिति, कर्मणि लकारे यकि सति चिन्त्येत इत्यत्र च नलोपनिवृत्यर्थमिदित्व-मिति शङ्क्यम् । 'चुरादिणिचो नित्यत्वेन णिचं विना केवलात् चिन्त्यात् चिन्त्येत, इति प्रयोगस्य असम्भवादिति चेद् ? उच्यते—अत्रत्यमिदित्करणं णिचः पाक्षि-कत्वे लिङ्गम् । एवं हि कदाचिद् चिन्त्यात् चिन्त्येत इति प्रयोगस्य सत्त्वात् तत्र नलोपनिवृत्यर्थमिदित्करणमिति स्वांशे चरितार्थम् । फलञ्च—चिन्तति चिन्तेत् इत्यादिप्रयोगोपपत्तिः । इदं हि ज्ञापकं चुरादिस्वसामान्यापेक्षमिति वृत्तिकारादयः । तेन जगाण, जगणतुः इत्यादीनां सिद्धिः । ज्ञापकस्य चितिधातुमात्रविषयकत्वे चौ-रादिकस्य गणधातोर्जगाण, जगणतुः इत्याद्युदाहरणानुपपत्तिः स्यात् । न चैवम् 'आधृषाद्वा' इति व्यर्थमिति वाच्यम् । ज्ञापकसिद्धत्वासार्वत्रिकत्वात् ।

केचित्तु सर्वस्यापि चुरादेर्णिज्विकल्पे सति "आधृषाद्वा" इति कतिपयचुरा-द्यन्तर्गणपठितानां णिज्विकल्पविधेर्वैयर्थ्यमाशङ्क्य ज्ञापकं चिति धातुमात्रविषयक-माहुः । अस्मिन्नेव पक्षे ग्रन्थकारस्य सम्मतिरित्यलम् ।

प्रश्नः—चुरादौ पृधातोः दीर्घोच्चारणस्य फलमुच्यताम् ।

उत्तरम्—नन्वयं धातुर्ह्रस्वान्त एव निर्दिश्यतां तावतैव पश्यतीत्यादिसिद्धेः । न च णिजभावपक्षे परिता परित्यतीत्यत्र इडर्थं दीर्घोच्चारणम् । ऋदन्तत्वेऽनित्क-

त्वप्रसङ्गादिति वाच्यम् । चुरादिणिचो नित्यत्वेन ततो णिजभावस्यात्यन्तमसम्भ-
वादिति प्रचुराशयः । उत्तरयितुस्त्वयमाशयः-पृधातोर्दीर्घोच्चारणमिडर्थम्, 'ह्रस्वा-
न्तत्वे "ऊदूऋदन्तैः" इत्यनिट्कारिकासु ऋदन्तस्य पर्युदासेन ऋदन्तस्यानिट्कत्वा-
वगमादिष्ण स्यात् । तच्च तदैवं साधकं भवेत्, यदाऽस्माद्धातोर्णिचो विकल्पः
स्यात्, अन्यथा पारीति णिजन्तस्य धात्वन्तरत्वात्सेट्कत्वे किं तेन । एवञ्च दीर्घो-
च्चारणं णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गम् । तेन पृणातिपिपतिभ्यां 'परिता' इत्यादिसिद्धा-
वपि पारयति, परति इत्यादिसिद्धिश्च दीर्घोच्चारणस्य कलम् ।

प्रश्नः—'अचीकृतत्' इति रूपं साधय ।

उत्तरम्—कृतधातोश्चुरादित्वात् णिचि तस्मादुलुङि तिपि अडि च्लौ "णि-
श्रिद्भुभ्यः" इति चङि "उपधायाश्च" इतीत्वं बाधित्वा "उर्कत्" इति पाक्षिके
ऋकारादेशे "चङि" इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्याससंज्ञायाम् "उरत्" इत्यत्वे रपरे "ह-
लादिः शेषः" इति लोपे "सन्वल्लघुनि" इत्यादिना सन्वद्भावे "सन्वतः" इती-
कारे "कुहोऽचुः" इति चुत्वे "दीर्घो लघोः" इति दीर्घे "इतश्च" इतीकारलोपे रु-
पम् । ऋकारादेशाभावे तु "उपधायाश्च" इतीत्वे रपरे कीर्तशब्दस्य द्वित्वे अभ्यास-
कार्ये 'अचिकीर्तत्' इति रूपम् ।

प्रश्नः—'ओः पुयण्जपरे' इति सूत्रे वर्गप्रत्याहारजप्रहो लिङ्ग-
मिति फक्किका विशदं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—"ओः पुयण्जपरे" इति सूत्रस्य पिपावयिषति विभावयिषति यि-
यावयिषति रिरावयिषति लिळावयिषति, जिजावयिषति इत्युद्धारणेषु द्वित्वम्प्रत्य-
निमित्ते णिचि "द्विर्वचनेऽचि" इति निषेधाऽप्रवृत्त्या द्वित्वात्प्रागेव परत्वाद्वृत्त्या-
वादेशयोः कृतयोरभ्यासेऽवाकारस्य ह्रस्वे सति "सन्वतः" इत्येवेत्वसिद्धेः पवर्गयण-
प्रत्याहारजकारग्रहणं व्यर्थम् । ओः पययोरपरयोरित्येव सूत्रमस्तु । पिपावयि-
षति यियावयिषतीत्यगोक्तरीत्या "सन्वतः" इतीत्वसिद्धावपि पिपयिषति यिय-
विषतीत्यत्र पूङ्गधातोर्युङ्धातोश्चाण्यन्तात् सनि अभ्यासे इत्वार्यं तदावश्यकत्वात् ।
वर्गप्रत्याहारजकारग्रहणन्तु व्यर्थमेव, एवञ्च तदुक्तार्थं ज्ञापकम् । 'णिच्यष आदेशो
न स्यात् द्वित्वे कर्तव्ये' ज्ञापितेऽस्मिन्नर्थे विभावयिषतीत्यादिषु णिचि लुप्ते सति
"चङि" इति द्वित्वे कार्यं प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य णिचि गुणावादेशयोः प्रतिषेधे सति
उच्यमान्तानां द्वित्वेऽभ्यासेऽकाराभाधेन "सन्वतः" इत्यस्याप्रवृत्त्या वर्गप्रत्याहारज-

कारग्रहणं स्वांशे चरितार्थम् । ज्ञापनफलन्तु—तुतावधिषति, अतुतवत्, ऊर्णनाव-
धिषति, आर्णूनवत्, पुस्कारधिषति, अपुस्कारदिति ।

प्रश्नः—‘औननत्’ इति रूपं सशङ्कासमाधि साधनीयम् ।

ननु अनधातोर्णिचि धातुत्वात्लुङि तिपि च्लौ “णिश्चि०” इत्यादिना चङि
आडागमे ‘आ उन इ अ त्’ इति स्थिते—यियवधिषति पिपविषते इति प्रयोगद्वये
इटि सति “द्विर्वचनेऽचि” इति निषेधेन पूर्वं द्वित्वेऽभ्यासेऽकाराभावेनेत्वं दुर्लभं स्या-
दिति तत्र इकारलाभार्थम् “ओः पययोः” इत्येव सूत्रयितव्ये वर्गप्रत्याहारजकार-
ग्रहणं व्यर्थीभूय ‘णिचि अच आदेशो न स्यात् द्वित्वे कर्तव्ये’ इति ज्ञापयति । तेन
“आ उन इ अ त्” इत्यत्र उक्त ज्ञापनेन पूर्वं द्वित्वे ततोऽतो लोपे वृद्धौ च ‘औन-
नत्’ इति रूपं सिद्ध्यति । अन्यथा प्रथममकारलोपे ततो निशब्दस्य द्वित्वे, औनि-
नत् इति रूपापत्तिः । अक्षीभवत् इत्यादौ परिनिष्ठिते रूपे औननत् इत्यत्र च सा-
धनदशायां द्वित्वस्योत्तरखण्डेऽकारलाभेन ज्ञापकस्य सजातीयपक्षत्वाद्यत्र द्विकृत्वा-
वुत्तरखण्डेऽवर्णो लभ्यते, तत्रैव परिभाषा लगति । एवं हि अचिकीर्तदिति रूपं सि-
द्धमभवति । अन्यथा तत्रापि परिभाषाप्रवृत्तौ तु पूर्वं कृतशब्दस्य द्वित्वे उक्तरूपा-
सिद्धिः । परिभाषाया अप्रवृत्तौ तु पूर्वम् “उपधायाश्च” इति सूत्रेणेत्वे ततो द्वि-
त्वादौ उक्तरूपसिद्धिः सुलभा ।

प्रश्नः—आख्यानात्कृतस्तदाच्चष्टे कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृ-
तिवच्च कारकमित्यस्यार्थं प्रदर्श्य उदाहरणे योजयत ।

उत्तरम्—आख्यायत इत्याख्यानं तद्वाचकात्, तत्—द्वितीयान्तात् कृतः—
कृतप्रत्ययान्तात् “कृदग्रहणे गतिकारकपूर्वत्वापि ग्रहणम्” इति परिभाषया कंसव-
धादेरपि कृदन्तत्वम्, आचष्टे इत्यर्थं णिच् स्यात् । कृल्लुक्—कृतप्रत्ययस्य लुक्,
प्रकृतिप्रत्यापत्तिः—तस्यैव कृतः या प्रकृतिः हनादिधातुरूपा, तस्याः प्रत्यापत्तिः—
आदेशादिविकारपरित्यागेन स्वरूपेणावस्थानमभवतीत्यर्थः । कारकञ्च—चात्का-
र्यम्, हेतुमणिचः प्रकृतेर्हन्त्यादेर्हेतुमणौ यादृशं कारकं धातावन्तर्भूतं द्वितीयान्तं
यादृशञ्च कार्यं कुत्वतत्त्वादि तदिहापीत्यर्थः । कंसवधमाचष्टे कंसं घातयतीत्युदाह-
रणम् । हननं वधः “हनञ्च वधः” इति भावे हन्धातोर्प्रत्ययः प्रकृतेर्वधादेशश्च ।
कंसस्य वधः कंसवधः, तमाचष्टे इत्यर्थे णिच् । अप्रत्ययस्य कृतो लुक् प्रकृतिभू-
तस्य हन्धातोर्वधादेशस्य च निवृत्तौ ‘कंसं हन् इ’ इति स्थिते कुत्वतत्त्वादिकार्येण
वक्तुं रूपम् ।

प्रश्नः—‘कंसमजोघतत्’ इति रूपं साधय ।

उत्तरम्—कंसवधमाचष्टे इत्यर्थे कंसवधशब्दात् णिचि, तस्मात् लुङि तिपि च्लेश्चि “आख्यानात् कृतस्तदाचष्टे कृतलुक्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच च कार-
कम्” इति कंसं हन् इति जाते “बङि” इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्याससंज्ञायां “ह्लादिः
शेषः” इति लोपे “कुहोश्चुः” इति चुत्वे “हनस्तोऽचिण्णलोः” इति तकारेऽन्ता-
देशे “हो हन्तेः” इति हकारस्य घकारे ञटि सन्वद्भावे “सन्वतः” इतीत्वे “दीर्घो
लघोः” इति दीर्घे “इतश्च” इतीकारलोपे च रूपम् । ननु कंसवधशब्दात् णिचि
कृते कंसवधशब्दस्याङ्गसंज्ञा धातुसंज्ञा च भवति, ततः कंसवधशब्दात् पूर्वमङागमः
कंसशब्दस्य द्वित्वञ्च भवितुमर्हति । किञ्च ‘धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यय कार्य-
विज्ञानम्’ इति परिभाषया कुत्वतत्वे न भवतस्तन्न, प्रकृतिवच्चेति चकारो भिन्न-
क्रमः कारकं चात्कार्यम् , हेतुमणिचः प्रकृतेर्हन्त्यादेर्हेतुमणौ यादृशं कारकं धाता-
वनन्तभूतं द्वितीयान्तं यादृशञ्च कार्यं कुत्वतत्वादि तदिहापीत्यर्थात् । अत्र “ह-
नश्च वधः” इति अप् प्रत्ययो वधादेशच्चेति दिक् । इति चुरादयः ।

अथ पयन्तप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘नचाग्लोपित्वाद्ब्रूयोरप्यसम्भवः, पयाकृतिनिर्देशात्’ इयं
फक्किका व्याख्येया ।

उत्तरम्—णिच्त्वावच्छिन्नसकळणिच्प्रत्यये परे यत्राग्लोपिनो धातवः स्यु-
स्तत्रैव “नाग्लोपि” इत्यादिना उपधाह्रस्वनिषेधः सन्वद्भावनिषेधश्च भवति । तेन
चोरिधातोः हेतुमणिचि एकस्मिन् णिचपरे एकस्य णिच्प्रत्ययस्य लोपेऽपि उपधा-
ह्रस्वो दीर्घश्च सिद्ध्यति । इत्यञ्च यत्र णिप्रत्यये परे णिप्रत्ययादन्यस्याको लोपस्त-
त्रैव निषेधविषयकं सर्वं कार्यम्भवति । अत्र तु णिप्रत्ययस्यैव लोपो न तु तदन्यस्येति ।

प्रश्नः—‘बहिरङ्गोऽप्युपधाह्रस्वो द्वित्वात्प्रागेव, ओणेऽर्द्धदित्करण-
ल्लिङ्गात् । मा भवान् प्रेदिधत्’ इयं फक्किका व्याख्येया ।

उत्तरम्—‘ओण् अपनयने’ इति धातोः ऋदित्करणम् औणिणदित्यत्र “ना-
ग्लोपि” इति उपधाह्रस्वप्रतिषेधार्थम् । यदि तु उपधाह्रस्वात्प्रागेव अन्तरङ्गत्वात्
द्वित्वं स्यात् तदा ‘ओण् ह अ त्’ इत्यत्र “अजादेर्द्वितीयस्य” इति णि इत्यस्य
णिचा सह द्वित्वे सति पञ्चादोकारस्य चङ्परे ण्, उपधात्वाभावादेव ह्रस्वस्याप्रस-

कृत्वात् ऋदित्करणं व्यर्थं स्यात् । द्वित्वात्प्रागेव उपधाह्रस्व इत्यभ्युपगमे तु 'ओण इ अ ए' इत्यस्यामवस्थायां प्राप्तस्य ह्रस्वस्य निषेधार्थमृदित्करणमर्थवत् । अतो बहिरङ्गोऽप्युपधाह्रस्वो द्वित्वात् प्रागेवेति विज्ञायते ।

ननु आटिटत् आशिशात् इत्यत्र द्वित्वप्रवृत्त्यनन्तरमुपधाह्रस्वस्याभावेऽपि "आ-टश्च" इति वृद्धौ आटिटत्, आशिशात्, इति सिद्धयत्येवेति किमनेन ज्ञापनेनेति चेद्—उच्यते । 'एध् इ अ ए' इति स्थिते पूर्वं द्वित्वप्रवृत्तौ धि इत्यस्य द्वित्वे प-ञ्चादेकारस्य ह्रस्वो न स्यात् । द्वित्वात्प्रागेव उपधाह्रस्वे तु 'इध् इ अ ए' इति स्थिते धि इत्यस्य द्वित्वे माङ्योगादाडभावे इदिषदिति इष्टं सिद्धयति । ननु मा भवान् प्रेदिषत् इत्यत्र प्र इदिषदिति स्थिते कृतेऽपि ह्रस्वे एकदेशविकृतन्यायेन ए-धधातुत्वात् "एत्येधत्यूढस्" इति वृद्धिः स्यादिति चेद् ? उच्यते । अवर्णादेजा-द्योरेत्येधत्योरिति व्याख्यातत्वादित्यलम् ।

प्रश्नः—'उङ्ज-आर्जवे' धातोः लुङि मौञ्जिजत् इति रूपं कथम् ।

उत्तरम्—ननु उङ्ज धातोः णौ लुङि च्लौ चङि इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषे औञ्जिजत् इति रूपं स्यात् । 'औञ्जिजत्' इत्येव तु इष्यते । तत्रोच्यते—अयं धातु-रूपदेशे 'उङ्ज आर्जवे' इत्याचार्येण पठितस्तेन नन्दाः" इति निषेधाज्जिज्ञादस्य द्वित्वे 'भुज्युङ्जौ' इति सूत्रे उङ्जेति निर्देशेन निपातनादकारस्य बकारे णिलोपे च कृते उक्तं रूपं सिद्धयति । यदि निपातनकृतबकारस्तदा तिष्ठेत्तदा दकारोच्चारणं व्यर्थमेव स्यादिति तत्सामर्थ्याद्विस्वानन्तरमेव बकारः ।

प्रश्नः—'विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ' इत्यत्र कानुपपत्तिः, किञ्च समाधानम् ।

उत्तरम्—'विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ' इत्यत्र मनुष्यवाचेति करणेनैव राज्ञो विस्मय इति सिंहरूपप्रयोजकाद्विस्मयाभावेन "नित्यं स्मयतेः" इति सूत्रा-प्रवृत्तौ आत्वाभावेन पुग्न न स्यात् । यदि प्रयोजकाद्विस्मयः स्वीक्रियते, तदा "भीष्मोर्हेतुभये" इत्यात्मनेपदमपि स्यात् । एवञ्च शतृप्रत्यययुक्तं रूपमनुपपन्नं भवतीति सन्देहावसरे 'विस्मापयन्' इत्येव पाठ इति साम्प्रदायिकाः ।

अथवा राजा विस्मयते, मनुष्यवाक् प्रेरयतीति मनुष्यवाक् राजानं विस्माप-यते इति, तां मनुष्यवाक् सिंहः प्रेरयतीति सिंहः तथा राजानं विस्मापयन्निति ण्य-न्ताणौ मनुष्यवाक् रूपप्रयोजकाद्विस्मयो विद्यत इत्यात्वादिकार्यं सुलभमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘अध्यजीगपत्’ अस्य साधनप्रकारः साधूपपादनीयः ।

उत्तरम्—अधिपूर्वादिङ्धातोणिचि तदन्तात्सलुङि अडागमे च्लेङ्चडादेशे ‘णौ च संक्वडोः’ इति इडो गाडादेशे पुकि उपधाह्रस्वत्वे ‘अधि अ गप् इ अ त्’ इति स्थिते गप् इत्यस्य द्वित्वे इलादिशेषेऽभ्यासस्य “कुहोऽचुः” इति चुत्वे “सन्वत्” इति सन्वद्भावे “सन्यतः” इतीत्वे “दीर्घो लघोः” इति इकारस्य दीर्घे च “अध्यजीगपत्” इति निष्पन्नम् । न चात्र णिजिनमित्तस्य गाडो द्वित्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावो निषेधो वा शङ्क्यः । यत्राभ्यासोत्तरखण्डे आद्योऽजवर्णोऽस्ति तत्रैव स्थानिवद्भावो निषेधो भेत्युक्तत्वात् । इह तु गाडः पूर्व सति हि द्वित्वे “अजादे-द्वितीयस्य” इति णिच एव द्वित्वं भवेत्ततश्चङ्परणिजिनमित्तो गाड्, ततश्च प्रक्रियायां परिनिष्ठितरूपे वाऽवर्णवदुत्तरखण्डं दुर्लभं कीर्तयतिसाम्यात् ।

प्रश्नः—‘ऐर्षियत्’ इति रूपं साधु साधनीयम् ।

उत्तरम्—ईर्ष्यातोऽर्थ्यन्ताच्चङि अजादित्वादाडागमे ‘आ ईर्ष्य् इ अ त्’ इति स्थिते ‘ईर्ष्यतेऽतृतीयस्येति वक्तव्यम्’ इति वार्तिकेन तृतीयव्यञ्जनस्य तृतीयैकाचश्च द्वित्वं भवति । ततश्च तृतीयव्यञ्जनस्य द्वित्वपक्षे व्यञ्जनापेक्षया तृतीयव्यञ्जनं यकारस्तत्सहितस्य यि इत्येकाचो द्वित्वे गिलोपे च कृते ‘ऐर्षियत्’ इति रूपम् । तृतीयैकाचो द्वित्वपक्षे ऽत्र तृतीयैकाचोऽभावेन वार्तिकाप्रवृत्तौ ‘अजादेद्वितीयस्य’ इति व्यशब्दस्य द्वित्वे यलोपादौ च कृते ‘ऐर्षियत्’ इति रूपम् ।

प्रश्नः—‘निवृत्तप्रेषणाद्धातोर्हेतुमणौ शुद्धेन तुल्योऽर्थः’ इमां फक्किकां साधूपपादय ।

उत्तरम्—ननु ‘प्रार्थयन्ति शयनोत्थितं प्रियाः’ इति माघकाव्ये प्रार्थयन्तीति न चौरादिकस्वार्थिकणिजन्तम्, तस्य आगर्वीयतया आत्मनेपदप्रसङ्गात् । नापि हेतुमण्यन्तम् । स्वाभोष्टं याचते इत्यर्थे तदसम्भवात् । नहि प्रयोजकव्यापागभावे तत्प्रवृत्तिरस्तीत्यत उच्यते—निवृत्तप्रेषणाद्धातोरिति । निवृत्तं प्रेषणं यस्मात् सः निवृत्तप्रेषणः सम्प्रति अविवक्षितप्रेषण इत्यर्थः । तस्माद्धातोः भूतपूर्वगत्या प्रेषणमादाय हेतुमणौ कृते शुद्धेन णिज्विहितेन धातुना तुल्योऽर्थः प्रतीयते इत्यर्थः । तदुक्तम्—‘निवृत्तप्रेषणाद्धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजिष्यते’ इति । इदञ्च ‘णेरणौ’ इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

प्रार्थयन्ति शयनोत्थितं प्रिया—इत्यस्य हि शयनादुत्थितं स्वभतारं प्रियाः

प्रार्थयन्ते । वयस्याः प्रेरयन्तीति वयस्याः प्रियाभिः प्रार्थयन्तीति दशायां सख्या व्यापारत्यागे यादृशोऽर्थः शुद्धाधेधातोर्भवति तादृशोऽर्थो ण्यन्ते सत्यपि भवति । इत्थञ्च प्रिया यौवनेन लज्जां विहाय स्वस्वभर्तारं पुनरागमनाय स्वयमेव प्रार्थयन्तीति वाक्यार्थो भवत्यलम् ।

इति ण्यन्तप्रक्रिया ।

अथ सन्नन्तप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘एषिषिषति’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं प्रसाधय ।

उत्तरम्—इषधातोः सन् इट् हलादित्वाभावेन क्त्वाभावाद्गुणे एप् इ सति इति स्थिते “अजादेद्वितीयस्य” इति षिस् इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषे सनः षत्वे रूपम् । नन्विह सत्यपि क्त्वे नित्यत्वात् परमपि गुणं बाधित्वा षिस् इत्यस्य द्वित्वे धात्ववयवस्य इकारस्य उपधात्वाभावादेव गुणाप्रसक्तेर्हलादेरिति व्यर्थमिति चेद् ? न । इह नित्यमपि द्वित्वं गुणेन बाध्यते । उपधाकार्यं हि द्वित्वात्प्रबलम्, ओणेर्ऋदित्करणस्य सामान्यापेक्षज्ञापकात् । तथाहि—ओणधातोः ण्यन्ताल्लुङि चङि “णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः” इति ह्रस्वस्य “नारलोऽपि शास्त्रदिताम्” इति निषेधे सति ‘ओणि अ त्’ इति स्थिते णि इत्यस्य द्वित्वे मा भवानुणिणत् इति रूपम् । अत्र उपधा स्वनिषेधार्थमोणेः ऋदित्करणम् । उपधाह्रस्वे कृते तु ‘अण् इ अ त्’ इति स्थिते णि इत्यस्य द्वित्वे मा भवानुणिणदिति स्यात् । ओकारो न ऋयेत इति स्थितिः । यदि तु नित्यत्वात् उपधाह्रस्वात् प्रागेव ‘ओण् इ अ त्’ इत्यस्यां दशायां द्वित्वं स्यात् । तदा ओकारस्य उपाधात्वाभावादेव ह्रस्वाप्रसक्तेस्तन्निषेधार्थमृदित्करणमनर्थकं स्यात् । तस्मादुपधाह्रस्वात्मकम् उपधाकार्यं द्वित्वात् प्रबलमिति विज्ञायते इत्यर्थः ।

प्रश्नः—धिप्सति ऊर्णुनविषति इति संसाध्य “द्विर्वचनेऽचि” इति निषेधः कुतो नेति दर्शय ।

उत्तरम्—धिप्सति दम्भधातोः सनि “दम्भ इच्च” इति ह्रस्वे ‘सन्त्यलोः” इति द्वित्वे “अत्र लोपोऽभ्यासस्य” इति अभ्यासलोपे “हलन्ताच्च” इति हलप्रहणं जातिपरमित्याश्रित्य क्त्वे “अनिदिताम्” इति नलोपे भट्टभावे “क्षरि च” इति चत्वे धिप्सेति तस्य धातुत्वाल्लुङि तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि पररूपे च

रूपम् । यदा “दम्भ इच्छ” इति दीर्घकारादेशस्तदा धीप्सति । यदा “सनीवन्त-
र्ध” इत्यादीना पाक्षिके इटि दिदम्भिषतीति रूपत्रयम् ।

ऊर्णनविषति—ननु ऊर्णोतेः सनि “सनीवन्तर्ध” इत्यादीना इटि द्वित्वा-
त्प्राग् “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इति गुणेऽवादेशे च कृतेऽभ्यासे उकारस्य श्र-
णन्न स्यादिति चेद् ? न । “द्विर्वचनेऽचि” इति सूत्रेण गुणनिषेधात् । न चात्र
“सन्त्यङोः” इति सूत्रेण सन्नन्तस्य द्वित्वं प्रति कार्थित्वादितो निमित्तत्वं न स्या-
दिति वाच्यम् । इदं द्वित्वरूपकार्यत्वाभावेन निमित्तत्वात् । अत्र “सन्त्यङोः”
इति सूत्रेण प्रथमतः सन्नन्तसमुदायस्य द्वित्वरूपकार्यमप्राप्तमभवति, परञ्च “अजा-
देर्द्वितीयस्य” इति सूत्रबलेन नुशब्दस्यैव द्वित्वरूपकार्यमभवति न त्विटः । इत्थञ्च
‘कार्यमनुभवन् हि कार्या निमित्ततया नाश्रीयते’ इति परिभाषया अवसर एव ना-
स्ति । यत्र कार्यमनुभवन् कार्या वर्तते, तत्रैव कार्या निमित्तत्वेन न स्वीक्रियते
इति हि परिभाषार्थः । अत्र च ‘यदागमास्तद्गुणांभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते’ इति
पारभाषया इट् रूपसन् द्वित्वन्नानुभवतीति दिक् ।

प्रश्नः—‘अरिषति’ अस्य सिद्धिं लिखत ।

उत्तरम्—ऋधातोः सनि घलादिलक्षणे इटि “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इति
गुणे रपरत्वे “अजादेर्द्वितीयस्य” इति सूत्रबलेन रिस्शब्दस्य द्वित्वे सलोपे प्रयोगः
सिद्ध्यति । न चात्र “द्विर्वचनेऽचि” इति निषेधात् द्वित्वे कर्तव्ये गुणादेशो न स्या-
दिति वाच्यम् । इदं द्वित्वेन “कार्यमनुभवन्” इत्यादिपरिभाषया तस्य निमित्त-
त्वायोगात् । अत्रेष्ट एव द्वित्वं भवतीति कार्थित्वं वर्तते, इदं निमित्तत्वेन न गृह्यते
इति “द्विर्वचनेऽचि” इति सूत्रेण प्रवर्तते इति दिक् ।

प्रश्नः—‘उचिच्छिषति’ इदं रूपं शङ्कासमाधिपूर्वकं प्रसाधय ।

उत्तरम्—उच्छित्तुमिच्छतीत्यर्थे “धाताः कर्मणः समानकर्तृकात्” इति सनि
आर्धधातुकत्वात् “आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः” इतीटि “अजादेर्द्वितीयस्य” इति “स-
न्त्यङोः” इति (द्वित्वविषये “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे”) इति परिभाषयाऽसिद्धत्वं न
वर्तते इति छिश्शब्दस्य द्वित्वे छकारलोपे चकारशेषे तस्मात्त्वटि तिपि शपि पररूपे
च रूपम् । न चात्र ‘निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः’ इति पारभाषया छलोपे सति
तुकोऽपि निवृत्तिः स्यादिति वाच्यम् । “आख्यानात्” इत्यादिवार्तिके प्रकृतिप्र-
स्थापनविषयेन “छ्वोः शूढनुनासिके च” इति २३ तुग्विशिष्टछकारपाठेन च परि-

भाषाया अनित्यत्वज्ञापनात् । यदि परिभाषायाः प्रवृत्तिः सर्वत्र स्यात् तदा छका-
रस्य शकारे कृते तुको निवृत्तिः परिभाषयैव स्यादिति सूत्रे तुग्रहणं व्यर्थमेव । त-
देव व्यर्थं सदुक्तपरिभाषाया अनित्यत्वे प्रमाणं भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—शैषिकान्मतुबर्थाया-इत्यादिकारिका उदाहरणादिप्रदर्श-
नपुरस्सरं व्याख्येया ।

उत्तरम्—शेषाधिकारे भवः शैषिकः । अध्यात्मादित्वाट् । शैषिकात्-शे-
षाधिकभवप्रत्ययान्तात् शैषिकः सरूपः प्रत्ययो न भवति । तेन शालायां भवः
शालीयः “वृद्धाच्छः” तदन्तात् शालीये भव इति वाक्यार्थं स छ एव न भवति
किन्तु वाक्यमेव । विरूपस्तु भवत्येव । अहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रः । भवार्थेऽण् ।
तदन्तादाहिच्छत्रे भव इति वाक्यार्थं वृद्धाच्छा भवति । आहिच्छत्रीयः । एवं मतु-
बर्थायात् सरूपो मतुबर्थकः प्रत्ययो न । धनवानस्यास्तीति मतुबन्तान्मतुङ्गः ।
विरूपस्तु स्यादेव, दण्डिमती शाला । इह मतुबन्तात् इतिप्रत्ययो भवत्येव ।
सन्नन्तात्सन्नेष्यते । अर्थद्वारा च साहचर्यम् । तेनेच्छासन्नन्तात्सन्न । स्वार्थसन्न-
न्तात्तु स्यादेव । जुगुप्सिषते, मीमांसिषते इति । इति सन्नन्तप्रक्रिया ।

अथ यङ्लुगन्तप्रक्रिया ।

प्रश्नः—यङ्लुगन्तात् आत्मनेपदं कथन्नेति प्रदर्श्य यङ्लुको भा-
षायां प्रवृत्तौ किम्मानमिति विस्तरेण ब्रूत ।

उत्तरम्—बोभवीति—नन्वत्र प्रत्ययलक्षणेन क्तिवधर्ममानोय “अनुदा-
त्तञ्जित आत्मनेपदम्” इति सूत्रेणात्मनेपदं कथं न स्यादिति चेद् ? न । क्तिवस्य
प्रत्ययाप्रत्ययोभयवृत्तित्वेन प्रत्ययलक्षणसूत्राप्रवृत्तेः । यो हि धर्मः केवलप्रत्यये ति-
ष्ठति, तस्यैव धर्मस्य प्रत्ययलक्षणेनानयनं भवति, यश्च धर्मः प्रत्ययेषु वर्तते, अथ च
धातुष्वपि वर्तते, तस्य धर्मस्यानयनं न भवति । क्तिवधर्मश्च यडादिप्रत्ययेषु वर्तते
अथ च शीडादिधातुष्वपि वर्तते, इति तस्य धर्मस्यानयनं न भवति । अत एव
शोभना दृषदो यस्मिन् प्रासादे इति विग्रहे प्रत्ययलक्षणेन असन्तत्वमादाय “अ-
त्वसन्तस्य” इति दीर्घोऽपि न भवति । असन्तत्वस्योभयेष्वपि विद्यमानत्वात् ।

यङ्लुको भाषायां प्रवृत्तौ मानम्—“भूषवोस्तिङि” इति गुणनिषेधे
सिद्धे “बोभ्रुतेतिक्ते०” इति गुणाभाबनिपातनं छन्दस्येव गुणनिषेधो भवतीति

नियमं करोति । एवञ्च यदि भाषायां यङ्लुक् न स्यात्तदा नियमस्य किमपि फल-
मेव नास्तीति यङ्लुक् भाषायामपि सिद्धो भवति । न च द्वित्वे 'बोभू' इति समु-
दाये भूधातोर्भावेन 'भूसुवोस्तिङि' इति सूत्राप्रसौ गुणाभावो निपातनोप-
वेति वाच्यम् । षष्ठाध्यायीस्यसूत्रेण यद्वित्वं भवति तत्पुनरपि तस्यैवोच्चारणं भव-
ति, न तु नवीनस्य द्वितीयस्य भूशब्दस्य, 'द्विः प्रयोगो द्विर्वचनं षाष्ठम्' इति
सिद्धान्तात् ।

प्रश्नः—यकारवकारान्तानान्तूट्भाविनामिति फक्किका साधु
व्याख्येया ।

उत्तरम्—“छ्वोः शूङ्” इति सूत्रे भाष्ये किद्रूपहणमनुवर्तते नवेति विचारे
कांश्चिद्दोषानुज्ञाव्य परिहृत्य चोक्तम् । एतावानेव विशेषः । अनुवर्तमाने किद्रूप-
हणे छः षट्त्वं वक्तव्यम् । अननुवर्तमाने त्वनेन छः शतत्वे कृते शान्तत्वादेव षो
भविष्यतीति प्रष्टा प्रष्टुमित्यादि सिद्धये वश्चादिसूत्रे छप्रहणं न कर्तव्यम् । एवं हि
वदता भाष्यकृता ऊट्भाविभ्यो यङ्लुक् नास्तीत्युक्तप्रायम् । अन्यथा दिवेर्यङ्लुकि
ईडभावपक्षे देदेति देदेषि इत्यादौ ऊटो भावाभावाम्भ्यां महान् विशेषः स्यात् । तत्र
किद्रूपहणाननुवृत्तावृत्तः प्रवृत्त्या देद्योति देद्योषीत्यादिरूपविशेषलाभात्, परन्तुवर्द्ध-
ज्ञापकं “छ्वोः शूङ्” इत्यनेन यत्रोट् प्रवर्तते तत्रैव प्रवर्तते । तज्ज्ञापनस्योक्तसूत्रस्य
भाष्यमूलकत्वात् । “ज्वरत्वर” इत्यादिसूत्रेण यत्रोट् भवति, तत्र यङ्लुग् भवत्ये-
वेति युक्तं माधवादीनां सम्मतञ्च ।

प्रश्नः—ऋधातोर्यङ्लुकि आशीर्लिङि प्रथमपुरुषैकवचने का
रूपसिद्धिः ।

उत्तरम्—ऋधातोर्यङ्लुकि द्वित्वे ङरदत्वे हलादिशेषेऽभ्यासे रिकि आशी-
र्लिङि अरि ऋ यात् रीकि च अरी ऋ यात् इति स्थिते “अभ्यासस्यासवर्णे” इति
इकारस्येयङि ऋकारस्य रिडादेशे ‘अरिय्रियात्’ इति रूपम् । अत्र “लोपो व्योः”
इति यलोपस्तु न, बहिरङ्गत्वेन रिङोऽसिद्धत्वात् । “अचः परस्मिन्” इति स्थानि-
वत्वाच्च । “न पदान्त” इति निषेधस्तु न शङ्क्यः । स्वरदीर्घयलोपेषु लोपरूपा-
जादेश एव न स्थानिवत् इत्युक्तेः । इति यङ्लुगन्तप्रक्रिया ।

अथ नामधातुप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘भवगलभाञ्चके’ अत्र शङ्कानिरासमाधिरुच्यताम् ।

उत्तरम्—अवगलभादयः पचाद्यजन्ताः । क्प्रप्रक्रियोगेनानुदात्तत्वमनुनासिकत्वं चाच्प्रत्ययस्य प्रतिज्ञायते । न चात्र क्प्रप्रत्ययसन्नियोगेन अच्प्रत्ययस्यानुनासिकत्वादिनिपातनाद्गलभादिघटकाकारस्य लोपेऽनेकाच्त्वाभावेन आम् न स्यादिति वाच्यम् । ‘साम्प्रतिकामावे भूतपूर्वगतिराश्रीयते’ इति परिभाषया आम्प्रत्ययस्य सिद्धत्वात् । उक्तवचने प्रमाणञ्च—“आचारेऽवगलभ” इत्यादिवातिकमेव । नचाचारेऽर्थे ऽवगलभते इत्यादावात्मनेपदार्थे वार्तिकं सार्थकमिति वाच्यम् । “धातूनामनेकार्थाः” इति वचनेन प्रत्ययरहितगलभादिधातोरेष्याचारेऽर्थे शक्तिप्रदर्शनादवगलभते इत्यादौ तङ्गः सिद्धत्वात् । वार्तिकेऽवोपसर्गविशिष्टपाठसामर्थ्येन केवलगलभादिधातोः उपसर्गान्तरविशिष्टाच्च गलभादिधातोः कथंवेवभवतीति माधवादयः । परञ्च क्यङ्क्रियोर्नास्ति विवादो द्वाभ्यामपि भाव्यम् । किन्तु अवोपसर्गरहितेभ्यो गलभादिभ्यः क्प्रिपि सति परस्मैपदमेव स्यान्नत्वात्मानेपदमित्येव वक्तुं युक्तम् । वार्तिकस्य मुख्यप्रयोजनं प्रयोगे आम्प्रत्ययस्य सिद्धिः । आत्मनेपदं तु गौणफलमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘अवागलिभष्ट’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—अवागलिभष्ट—अव उपसर्गात् गलभ इत्यस्मात् “आचारेऽवगलभकलीबहोडेभ्यः क्प्रिवा वक्तव्यः” इति क्विपि धातुत्वाल्लुङि अनुदात्तेत्वादात्मनेपदे प्रत्यये च्लौ “च्लेः सिच्” इति सिजादेशे इटि प्रत्ययसकारस्य “आदेशप्रत्यययोः” इति षत्वे षटुत्वे, अङागमे कर्तव्ये उपसर्गस्य पृथक्कृत्वा गलभशब्दात्पूर्वम् अटि दीर्घं च रूपम् । अत्र सङ्ग्राम-युद्धे इत्यत्र योऽयं ग्रामशब्द इत्युक्तेऽपि सामर्थ्यात् सङ्ग्रामशब्दे लब्धे विशिष्टपाठो ज्ञापयति—“उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये विकीर्षिते पृथक् क्रियत इति सिद्धान्तादेव उपसर्गस्य पृथक् करणमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘स्वमनायत’ एतद्रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं प्रसाध्य उपसर्गस्य पृथक्करणे सफलं ज्ञापकं प्रदर्शय ।

उत्तरम्—असुमनः सुमनो भवतीत्यर्थे “भृशादिभ्यो भुञ्ज्यच्चेर्लोपश्च हलः” इति क्यङि सकारलोपे च कृते “अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः” इति दोर्वे क्यङन्तस्य

धातुत्वाल्लङि तल्लि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि पररूपे मनःशब्दात्प्रागेवाटि यणि रूपम् । ननु सुमनस्शब्दात् क्यङ् विधानेन सुमनस्शब्दस्याङ्गसंज्ञासत्त्वात् सशब्दात्प्रागेवाट् भविष्यतीति तन्न, सङ्ग्रामयुद्ध इत्यत्र युद्धे सङ्ग्रामशब्दः स च समुपसर्ग-विशिष्ट एवास्ति न केवलङ्ग्रामशब्दस्ततो ग्रामशब्दपाठेनैव सङ्ग्रामशब्दलाभे समुपसर्गविशिष्टपाठो व्यर्थीभूतो ज्ञापयति—धातुसंज्ञाप्रयोजकीभूतप्रत्ययस्य चिकीर्षितत्वे उपसर्गसमानाकारकपूर्वपदस्य पृथक्करणं भवतीति तात्पर्यात् । तेन 'स्वमनायत' इत्यादौ सूपसर्गस्य पृथक्करणं फलं भवति । अथ च ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वेन यत्रोपसर्गस्य सम्पूर्णरूपेण स्थितिस्तत्रैव पृथक्करणं भवति, यत्र तु गुणादेशेनोपसर्गस्यापहरणं भवति; तत्र पृथक्करणन्न भवति । ततश्च ओढ इव आचर्येति विप्रदे आळः पृथक्करणाभावेनाव्ययपूर्वपदत्वाभावाल्लयप न भवतीति फलम् । ज्ञापकस्य विशेषापेक्षत्वे "उस्योमाङ्क्षवाटः प्रतिषेधो वक्तव्यः", इति वार्तिकं तत्प्रत्याख्यानपरकम् "आटश्च" इति सूत्रे चकारग्रहणञ्च प्रमाणम् । अन्यथा—भौदीयदित्यादौ धातुसंज्ञायां कर्तव्यायाम् आळः पृथक्करणेन "ओमाङ्कोश्च" इति सूत्राप्रवृत्तौ वार्तिकं व्यर्थमेव । एवञ्च पररूपादिकार्याप्रवृत्तौ पुनर्वृद्धिविधानार्थं चकारग्रहणमपि व्यर्थम् । "आटश्च" इति सूत्रे चकारग्रहणम् "आटश्च" इति वृद्धिविषये यद्यत् कार्यं प्राप्नोति तत्तत्सर्वं निवारयतीति चकारग्रहणेनैव पररूपञ्च श्यादिति वार्तिकं निष्प्रयो-जनमिति तद्गवता प्रत्याख्यातम् ।

प्रश्नः—'वृद्धौ सत्यां टिलोपः' अत्र ज्ञापकं फलञ्च प्रदर्शय ।

उत्तरम्—'बुद्धेलोपो बलीयान्' इति भाष्यवचनात् पूर्वं टिलोपे अङ्गोऽपि-त्वाद्दीर्घसन्वज्ञावयोरभावात् 'अजहलत्' 'अचकलत्' इति रूपद्वयसिद्धौ 'हलिकल्यो-रदन्तत्वनिपातनं व्यर्थमेव, तदेव व्यर्थीभूय वृद्धौ सत्यां टिलोपो भवतीति वचनं ज्ञापयति । इत्यञ्च स्वांशे चरितार्थम् । फलञ्च—'अपीपटत्, अपपटत्' इति रूपद्वय-सिद्धिः । पूर्वोक्तभाष्यवचनेन पूर्वं टिलोपस्ततो वृद्धिरिति पक्षः सिद्धो भवति । ह-लिकल्योरदन्तत्वनिपातनेन च पूर्वं वृद्धिस्ततःटिलोप इति पक्षः सिद्धो भवति । ए-वञ्च प्रमाणद्वयेन मतद्वयं सिद्धम्भवतीति पूर्वोक्तरूपद्वयस्यापि सिद्धिरिति दिक् ।

प्रश्नः—'ष्वादयति' इति रूपं साधु प्रसाध्य "प्रकृत्यैकाच्" इति सूत्रस्य किम्फलमिति वद ।

उत्तरम्—'मपर्यन्तस्य' इत्यधिकारात् 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति सूत्रेण

त्वादेशो अन्तरङ्गत्वात् पूर्वम् “अतो गुणे” इति पररूपे ततः “प्रकृत्यैकाच्” इति टिलोपनिषेधे वृद्धौ च सत्यां तत्सिद्धिः । नच “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रस्योदाहरणं वार्तिककारेण प्रेष्ठः प्रेषान् इति दत्तम् । तच्चोदाहरणं भाष्यकारेण टिलोपे कर्तव्ये “असिद्धवद्भावात्” इति सूत्रेण प्रादेशस्यासिद्धत्वात् प्रादेशोऽकारोच्चारणसामर्थ्या-
द्वेति हेतुद्वयेन साधितम् । एवञ्च “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रं भाष्ये, प्रत्याख्यातमिति वाच्यम् । प्रेष्ठेत्यादिप्रयोगोऽन्यथासिद्धो न तु “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रस्य मुख्यो-
दाहरणमित्येव तद्भाष्याशयात् । मुख्योदाहरणन्तु ‘त्वादयति, मादयति’ इत्यादि ।
वार्तिककारोऽुदाहरणमन्यथासिद्धमिति भाष्यतात्पर्यम्, न तु तत्सूत्रमेव न कर्त-
व्यमिति तत्प्रत्याख्याने तात्पर्यमिति दिक् ।

प्रश्नः—‘श्वानमाचष्टे’ इत्यर्थे कानि रूपाणि शङ्कासमाधानञ्च किम् ? तदुपपादय ।

उत्तरम्—शुनयति—श्वानमाचष्टे इत्यर्थे “तत्करोति तदाचष्टे” इति णिचि इष्टवद्भावेन भत्वात् “श्वयुवमघोनामतद्धिते” इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे तस्माल्लटितिपि शपि गुणे अयादेशो च रूपम् । अत्र “नस्तद्धिते” इति टिलोपो न, इष्टनि टिलोप-
स्यादृष्टत्वात् । ब्रह्मिष्ठ इत्यादौ तु परत्वात् ‘ष्टेः’ इत्यस्यैव प्रवृत्तेः । तस्मात् शुन-
यति रूपम् । अन्येषाम्मते शावयतीत्यपि रूपम् ।

तथाहि—श्वानमाचष्टे इति विग्रहे “नस्तद्धिते” इति टिलोपे “श्वयुवम-
घोनामतद्धिते” इत्यनेन सम्प्रसारणे वृद्धौ च सत्यां तत्सिद्धिः । न चात्र
“प्रकृत्यैकाच्” इति प्रकृतिभावे टिलोपो न स्यादिति वाच्यम् । “येन नाप्राप्तिन्या-
येन ‘ष्टेः’ इत्यस्यैव बाधकत्वात् । यत्र यत्र “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रं प्रवर्तते, तत्र
तत्र “नस्तद्धिते” इति सूत्रं न प्रवर्तते । “ष्टेः” इति सूत्रं तु यत्र यत्र “प्रकृत्यैका-
च्” इति प्रवर्तते, तत्र तत्र सर्वत्रैव प्रवर्तते, इति “ष्टेः” इत्यस्यैव बाधकत्वम् ।
प्रेष्ठेत्यादौ “प्रकृत्यैकाच्” इति सूत्रविषये “नस्तद्धिते” इति न प्रवर्तते, “ष्टेः”
इति सूत्रं तु प्रवर्तते एव । इष्टनि यद्यत् सूत्रं प्रवर्तते तस्यैव सूत्रस्यातिदेशो भवति ।
इत्थञ्च ब्रह्मिष्ठ इत्यादौ परत्वात् ‘ष्टेः’ इत्यनेनैव टिलोपः सिद्धो भवतीति “नस्त-
द्धिते” इति सूत्रस्य तत्राप्यवृत्तिः । तथाच “नस्तद्धिते” इति सूत्राप्यवृत्तौ “शुनयति”
इत्येव रूपमिति केचित् ।

उत्तरम्—तिर्यञ्चमाचष्टे इत्यर्थे णिचि इष्टवद्भावेन टिलोपे तस्य बहिरङ्गत्वे-

नासिद्धत्वात् तिरसस्तिर्यादेशे वृद्धौ आथि 'तिरायि' इति स्थिते ततो लटि विपि शपि गुणे अयादेशे पररूपे च रूपम् । नवान्न टिलोपेनाञ्जधातुत्वाभावात्कथं तिर्या- देश इति वाच्यम् । "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इति परिभाषया तिर्यादेशे कर्तव्ये टिलोपस्यासिद्धत्वेन अञ्जधातुत्वसत्त्वात् । नच तिर्च्यादेशे कृते पुनष्टिलोपः स्यादि- ति वाच्यम् । यथाऽपाचितरामित्यत्र "असिद्धवद्भावात्" इति सूत्रेण प्रथमतो- पस्यासिद्धत्वेन तरवृषटकतकारस्य पुनः "चिणो लुक्" इति सूत्रेण लुक् न भवति, तथात्रापि प्रथमटिलोपस्यासिद्धत्वेन पुनष्टिलोपाभावात् । "अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गका- र्यम्" इति परिभाषया वा पुनष्टिलोपाभावाच्चेति दिक् । इति नामधातुप्रक्रिया ।

अथ कण्ड्वादयः ।

प्रश्नः—कण्डवादीनां धातुत्वप्रातिपदिकत्वोभयस्वीकारे फलं प्रमाणञ्च निरूपय ।

उत्तरम्—कण्डूञ् इति दीर्घपाठेन प्रातिपदिकाः इति ज्ञायत । तथाहि— 'कण्डूञ् गात्रविषर्णे' इति धातौ कण्डु इति ह्रस्वान्तः। एव पठितव्यः । "अकृत्सा- र्वधातुकोः" इति दीर्घे कण्डूयते इति रूपं सेत्स्यतीति दीर्घान्तपाठो ज्ञापयति 'कण्ड्वादयः प्रातिपदिकाः' इति । यदि च कण्ड्वादयः प्रातिपदिकास्तर्हि "कण्ड्वा- दिभ्यो यक्" इति सूत्रे ककारोपादानं व्यर्थमेव स्यात्, तदेव व्यर्थं सद् ज्ञापयति— 'कण्ड्वादयो धातवः' इति । इत्थञ्च कण्ड्वादीनां धातुत्वं प्रातिपदिकत्वञ्चेत्यु- भयं सिद्धम् । अत एवोक्तं भाष्ये—

'धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासङ्गनादपि । आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्वि- भार्षितः, इति ।

एवञ्च धातुपक्षे—'कण्डूयते' इत्यादीनां सिद्धिः । प्रातिपदिकत्वपक्षे—यकि असति सति क्रिपि च कृते—कण्डूः धातुत्वादुवञ्चि कण्ड्वा, कण्डुवः इति, प्राति- पदिकत्वे—यणि कण्ड्वौ कण्ड्वः इत्यादि । इति कण्ड्वादयः ।

अथात्मनेपदप्रक्रिया ।

प्रश्नः—आहध्वं मा रघुत्तममिति प्रयोगे शङ्कासमाधी निरूप्येताम् ।

उत्तरम्—ननु आहवम् इत्यादिप्रयोगे रघूत्तमस्य कर्मत्वेन स्वीयाङ्गकर्म-
कत्वाभावादकर्मकत्वाभावाच्च “आङो यमहनः” इति सूत्रेण आत्मनेपदाभाव
इति चेद् ? न । प्राप्येत्यध्याहारमाश्रित्य रघूत्तमम्प्राप्य मा हवम् इति प्राप्ति-
क्रियाम्प्रत्येव रघूत्तमस्य कर्मतया हन्तेरकर्मकत्वादात्मनेपदस्य निर्वाधात् । न च
प्राप्येत्यध्याहारे श्वशुराजिह्वेतीतिवदत्रापि कर्मणि पञ्चम्या भाव्यमिति वाच्यम् ।
त्यबन्तं विनैव यत्र त्यबन्तार्थप्रतीतिस्तत्रैव “त्यबलोपे कर्मण्यधिकरणे च” इति
वचनस्य प्रवृत्तित्वात् । अत्र तु त्यबन्तं त्रिना त्यबन्तार्थभानं न भवति प्रत्युत
मारणमेव प्रतिभातीति तस्याविषयत्वम् । अथवा भेतुमित्यादि तुमुन्नताध्याहारो
वा कर्तव्यः । एवम् ‘आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः’ इत्यत्र विषमविलोचनस्य
वक्षः प्राप्य आजघ्ने इति व्याख्यानेन हन्धातोरकर्मकत्वात्प्रयोगः साधुः । अथवा
वक्षो भेतुमिति तुमुन्नताध्याहारः कर्तव्यः, यथा-लोके मलजोऽतिहर्षात्स्वस्थैव
वक्षस्ताडयति, तथा विषमविलोचनस्य समीपमेत्य स्वकीयमेव वक्षः आजघ्ने ।

प्रश्नः—“णेरणौ यत्कर्म णो चेत्स कर्ताऽनाध्याने” अस्योदाहरणं
संलक्ष्यताम् ।

उत्तरम्—पश्यति भवः इति द्वितीयकक्षायां या क्रियोच्यते सैव क्रिया दर्श-
यते भव इति चतुर्थकक्षायामुच्यते । एवञ्च क्रियासाम्यात् प्रथमकक्षायां भवरूपक-
र्मणः कर्तृत्वाच्चात्मनेपदं सिद्धमभवति । एवं कर्तृस्थक्रियायामारोहयते हस्तीत्यत्रापि
अथवा पश्यन्ति भवमारोहन्ति हस्तिनमिति प्रथमकक्षायामेव कर्मणो हेतुत्वारोपा-
ण्णिचि दर्शयति भवः आरोहयति हस्तीति । ततश्च निजर्थव्यापारस्य अध्यारोपि-
तकर्तृव्यापारस्य च त्यागेन दर्शयते भव इति तृतीयकक्षायामेव तद् भवति । न च
भवरूपकर्मणः कर्तृत्वाद् दर्शयति भवो भक्तानिति द्वितीयकक्षायां कथं तद् न स्या-
दिति वाच्यम् । अध्यारोपितकर्तृव्यापारेण साम्येऽपि निजर्थव्यापारस्याधिक्येन
समानक्रियत्वाभावात् । तृतीयकक्षायां तु धातूपात्तव्यापारस्य निजर्थव्यापारस्य च
त्यागेन समानक्रियत्वात्तत्सिद्धः । नच तृतीयकक्षायामपि चाक्षुषज्ञानविषयीकरण-
रूपव्यापारयुक्तायाः पश्यन्ति भवो भक्ता इति प्रथमकक्षस्थक्रियाया अपेक्षया
न्यूनता स्यादिति वाच्यम् । एवकारेणाधिकांशस्यैव निस्सारितत्वात् ।

इत्यात्मनेपदक्रिया ।

अथ परस्मैपदप्रक्रिया ।

प्रश्नः—“अनुपराभ्यां कृञः” इति सूत्रे कर्तरीत्येव भावकर्मणो-
र्भाभूत् इत्यादि फक्किका विशदं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—“अनुपराभ्यां कृञः” इत्यत्र भावे कर्मणि लकारस्य कर्तृगे फले
परस्मैपदनिवृत्त्यर्थं कर्तरीत्यस्यानुवृत्तिरिति तत्वम् । ननु कर्तरीत्यस्यानुवृत्तावपि
अनुक्रियते शब्दः स्वयमेवेत्यत्र कर्मकर्तरि परस्मैपदं दुर्वारमिति चेद् ? न । कर्मक-
र्तरि “कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः” इत्यात्मनेपदेन परेणास्य बाधात् । ननु कर्मणि
यच्छास्त्रं तत् ‘कर्मवत्’ इत्यनेन कर्मकर्तर्यतिदिश्यते । तथा चात्र कर्मकर्तरि भाव-
कर्मणोरित्यात्मनेपदशास्त्रमिहातिदिश्यते तस्य च परत्वाभावात् कथमस्य बाधः
स्यादिति चेद् ? न । शास्त्रातिदेशस्य कार्यसम्पत्तिफलकत्वात् कार्यातिदेशस्य मुख्य-
तया तस्यैवेहाश्रयणात् । एवञ्च प्रकृते आत्मनेपदविधायकं ‘कर्मवत्कर्मणा’ इत्येव ।
तच्च “अनुपराभ्याम्” इत्यतः परमिति कर्मकर्तरि नास्य प्रवृत्तिः । यदा शास्त्राति-
देशपक्ष एवाश्रीयते, तदा “अनुपराभ्यां कृञः” इत्यत्र “कर्तरि कर्मव्यतिहारे” इत्य-
स्मादेकं कर्तृग्रहणमनुवर्तते, तथा “शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्” इत्यतो द्वितीयं
कर्तृग्रहणमनुवर्तते । तथा च स्वभावत एव यः कर्ता न तु त्रिविधाधीनः कर्मकर्ता
तथाविधकर्तार्येव अनुपराभ्यां कृञः परस्मैपदमिति लभ्यते । एवञ्च कर्मकर्तरि नास्य
प्रवृत्तिरिति दिक् । इति पदव्यवस्था ।

अथ भावकर्मप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘प्रकृतो मितं ह्रस्व एव तु न विकल्पितः’ इत्यादिफक्कि-
का विशदं व्याख्यायताम् ।

उत्तरम्—ननु “चिण्णमुलोः” इति सूत्रे दीर्घग्रहणं व्यर्थम् । “चिण्णमुलो-
रन्यतरस्याम्” इत्येतावतैव “मितं ह्रस्वः” इति पूर्वसूत्रादनुवृत्तस्य ह्रस्वस्यैव वि-
कल्पे दीर्घविकल्पसिद्धेरिति चेद् ? न । शमधातोर्ण्यन्ताण्यौ पूर्वणेलोपे लुटि तासि
ण्यन्तस्याजादित्वाच्चिण्वदिटं तस्याभीयत्वेनासिद्धतया अनिटीति निषेधाभावा-
ण्णिलोपे दीर्घविकल्पे सति शमिता शामितेति रूपद्वयमिष्यते । ह्रस्वविकल्पविधाने
तु ह्रस्वविकल्पो न स्यात् प्रथमणिलोपस्य “अचः परस्मिन्” इति स्थानिवत्त्वेन
व्यवहिततया चिण्परकणिपरकत्वाभावात् । दीर्घावेकलपविधौ तु प्रथमस्य णिचो

लोपो न स्थानिवत् दीर्घविधौ स्थानिवत्त्वनिषेधात् । भाष्यकारस्तु “न पदान्तः” इति सूत्रे “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इत्येव सिद्धत्वात् तत्र द्विर्वचनसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चरविधौ प्रत्याख्यातवान् । न च ण्यन्ताण्यौ “चिण्णमुलोः” इति दीर्घे कर्तव्ये प्रथमणिलोपस्य स्थानिवत्त्वं दुर्वारम् । “चिण्णमुलोः” इति दीर्घस्य पूर्वत्रासिद्धीयत्वाभावात् । ततश्च प्रथमणिचा व्यवहितत्वात् दीर्घानापत्तिः । एवञ्च तत्र दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवत्त्वनिवारणाय दीर्घग्रहणस्यावश्यकत्वात्कथं दीर्घग्रहणस्य प्रत्याख्यानमिति चेद् ? न । “चिण्णमुलोः” इति दीर्घविधौ णाविति णित्वजातिप्रधानो निर्देशः । चिण्णमुलपरकणित्वजातौ परत इति यावत् । णित्वजातिश्च णिद्वयेऽस्तीति प्रथमणेः स्थानिवत्त्वेऽपि दीर्घस्य निर्वाधत्वात् । एवञ्च ह्रस्वदीर्घयोर्विशेषाभावात् ह्रस्वविकल्प एव क्रियतां मास्तु दीर्घग्रहणमिति भाष्यकाराशयः ।

प्रश्नः—द्विकर्मकेषु सोदाहरणं कर्मप्रत्ययविचारः प्रस्तूयताम् ।

उत्तरम्—इत्थं हि द्विकर्मकाणां धातूनां कर्मप्रत्ययस्य व्यवस्था—

गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नोहृकृष्वहाम् ।

बुद्धिभक्षार्थयोः शब्दकर्मकाणां निजेच्छाया ॥

प्रयोज्यकर्मण्येषां ण्यन्तानां लादयो मताः ॥ इति ।

दुह्याच्प्रभृतीनां द्वादशधातूनां गौणे कर्मणि लादयो भवन्ति । गौर्दुह्यते पयः । गोपेनेति शेषः । अत्र गोरप्रधानकर्मत्वात्तस्मिन् कर्मणि लकारः । तिङा अभिहितत्वात् गोः प्रथमा । प्रधानकर्मत्वात्पय इति द्वितीयान्तम् । नोहृकृष्वहां प्रधाने कर्मणि लादयो भवन्ति । अजा ग्रामं नीयते, ह्रियते, कृष्यते उह्यते । अत्र अजायां प्रधानकर्मणि लकारः । ग्रामस्यानभिहितत्वात् द्वितीया । बुध्यर्थकस्य भक्षार्थकस्य शब्दकर्मणाञ्च प्रधाने वा गौणे वा कर्मणि स्वेच्छंशा लादयो भवन्ति । बोध्यते माणवको धर्मम् । बोध्यते माणवकं धर्मं इति वा, भोज्यते माणवकमोदनः । भोज्यते माणवक ओदनमिति वा । वेदोऽध्याप्यते विधि हरिणा, वेदमध्याप्यते विधिरिति वा । अन्येषां गत्यर्थादीनां प्रयोज्यकर्मणि लकारः । देवदत्तो ग्रामं गम्यते, अत्र प्रयोज्यकर्मणि देवदत्ते इति गमेऽर्थ्यन्तात्कर्मणि लः । इति भावकर्मप्रक्रिया ।

अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया ।

प्रश्नः—“कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः” इति सूत्रस्य कोऽर्थः, किञ्चेदाहरणम्, सूत्रेण कर्मणेत्यस्य वा किम्फलम् ।

उत्तरम्—“कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः” कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्स्यादिति सूत्रार्थः । मिथ्येते काष्ठम्, इत्युदाहरणम् । ‘देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति’ द्विधाकरोतीत्यर्थः । अत्र भिन्नातोद्विधाभवनं द्विधाभावनञ्चेति व्यापारद्वयम्, तत्र द्विधाभावनस्य—कुठारादिपातनरूपस्य—आश्रयो देवदत्तः, काष्ठञ्च द्विधाभवनस्याश्रयः, ततः सौकर्यातिशयद्योतनाय यदा कुठारस्य उद्यमननिपातनादिः देवदत्तव्यापारोऽविवक्ष्यते, तदा द्विधाभवनरूपे स्वव्यापारे काष्ठस्य स्वतन्त्रत्वात्कर्तृत्वं सम्पद्यते; तस्य “कर्मवत्कर्मणा” इति सूत्रेण कर्मवद्भावाद्यगात्मनेपदयोः मिथ्येते काष्ठम् । इति रूपम् । न चात्र द्विधाभवनरूपा या क्रिया कर्मस्था कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायामपि सैव न तु तत्तुल्यां, तुल्यत्वस्य भेदघटितत्वात् तत्कथं कर्मत्वातिदेश इति वाच्यम् । वास्तवभेदाभावेऽपि कर्मत्वकर्तृत्वावस्थाभेदोपाधिकं तत्समानाधिकरणक्रियाया भेदमाश्रित्य व्यवहारात् । कर्मणेति किम् ? कर्मणेत्यस्याभावे असिना छिनत्ति, स्थाल्यां पचतीत्यत्र करणाधिकरणयोर्यो व्यापारः स एवेदानीमसिच्छिनत्ति स्थाली पचतीत्यादौ कर्तृस्थ इति तत्रापि कर्मवत्त्वं स्यात्, तन्मा भूदित्येवमर्थं कर्मणेति पदमित्यर्थः । ननु तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवद्भवति इत्युक्ते केनेत्याकाङ्क्षायामनेककारकोपस्थितावपि कर्मवदिति प्रत्यासत्या कर्मणेति लभ्यत एवेति चेद् ? तर्हि ‘गच्छति ग्रामः’, आरोहति हस्तीत्यादौ कर्तृस्थक्रियेभ्यो कर्मवत्त्वनिवृत्त्यर्थं तदिति स्यात् । न चैवमपि पविमिदिप्रभृतीनामेव गरुडिप्रभृतीनां सकर्मकत्वे फलस्य कर्मनिष्ठत्वे च तुल्ये कर्तृस्थभावका गम्यादय इति कथं ज्ञातव्या इति तु न शङ्क्यम् । यत्र कर्मणि क्रियाकृतो विशेषो दृश्यते यथा पक्वेषु तण्डुलेषु, यथा वा छिन्नेषु काष्ठेषु तत्र कर्मस्था क्रिया नेतरत्र । नहि पक्वापकृतण्डुलेष्विव गतागतग्रामेषु आरूढानारूढहस्तिष्वित्यादौ वा क्रियाकृतं वैलक्षण्यं प्रत्यक्षमुपलभ्यते इति ।

प्रश्नः—“तपस्तपः कर्मकस्यैव” इति सूत्रस्य किमुत्थानबीजम्, वृत्तिकारमतश्चात्र कीदृशम्, तदायुष्मते रोचते न वा ।

उत्तरम्—उपवासादिरूपतपस्तापसं तपति दुःखीकरोतीत्यर्थः । एवञ्च तापसस्य कर्मत्वे तप्यातोर्दुःखजननमर्थः । तापसः स्वयमेव तप्यतेऽर्थात्तप अर्जयतीति

तापसस्य कर्तृत्वे तपेरर्जनरूपार्थः । एवं हि कर्मस्था क्रिया दुःखजननरूपा, कर्तृस्था क्रिया तु अर्जनरूपेति क्रियाभेदात्सकर्मकत्वाच्चाप्राप्ते कर्मवद्भावे “तपस्तपः कर्म-कस्य” इति सूत्रं विध्यर्थम् । एवकारस्तु व्यर्थे एवेति वृत्तिकारादयः । वस्तुतस्तु कर्म-त्वकर्तृत्वरूपावस्थाद्वयेऽपि तापस उपवासादिजन्यकृशतादिरूपशरीरसन्तापमनुभूय पुण्यविशेषमर्जयतीति कर्मस्था क्रिया कर्तृस्था क्रिया च समानेति कर्मवद्भावे प्राप्ते सकर्मकाणां कर्मवद्भावश्चेत्तर्हि तपेरेव” इति नियमार्थं सूत्रम् । तथा च ‘सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः’ इति वार्तिकमपि न कर्तव्यम् । नियमेनैव एवकारे लब्धे सूत्रे एवकारग्रहणं व्यर्थं सत् ‘तपधातोरपि यदि कर्मवद्भावश्चेत्तर्हि’ तपः कर्मकस्यै-वेति द्वितीयनियमं करोति । तेन सुवर्णमुत्तपतीत्यादौ कर्मवद्भावो न भवतीति फलमिति दिक् । इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ।

अथ लकारार्थप्रक्रिया ।

प्रश्नः—‘याहि याहीति याति’ इति विशेषशास्त्रकार्यप्रदर्शनेन साधय ।
उत्तरम्—‘याहि याहीति याति’ इत्यत्र “क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हि-स्वौ वा च तद्ध्रमोः” इति लोट्, तस्य सर्वपुरुषवचनविषये परस्मैपदिभ्यः कर्तरि हिः, एवञ्च याहीति अत्र “यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन्” इति लोट्प्रकृतिभूत एव धातुरनुप्रयोज्यः, तत अनुप्रयोगात् यथा—यथं लडादयस्तिबादयश्च भवन्ति, ततः संख्याकालयोः पुरुषविशेषार्थस्य चाभिव्यक्तिः । अत्र “क्रियासमभिध्याहारे द्वे वाच्ये” इति द्वित्वे याहि याहीति याति, यातः, यान्ति, इत्यनुप्रयोगात्सर्वल-काराः सर्वपुरुषवचनानि च भवन्ति । पुनः पुनरतिशयेन वा एककर्तृकं वर्तमानका-लिकं यानं यातीत्यर्थः । अत्रेतिशब्दस्त्वभेदान्वये तात्पर्यं ग्राहयतीति दिक् ।

इति लकारार्थप्रक्रिया ।

अथ कृदन्तकृत्यप्रक्रिया ।

प्रश्नः—“अचो यत्” इति सूत्रं कर्तुमशक्यं न वेति प्रतिपादय ।
उत्तरम्—हलन्तेभ्यो ण्यत्प्रत्यस्य विशिष्य विधानं भवतीति विशेषविहि-तत्वेन ण्यत्प्रत्ययो यत्प्रत्ययस्यापवादो भविष्यतीति, अयादेवाजन्तेभ्यो धातुभ्यो-ऽच्प्रत्ययः स्यादिति सूत्रेऽजग्रहणं न कर्तव्यम् । एवञ्च अजग्रहणे प्रत्याख्याते यद्ग्र-

इणमपि “तव्यसव्यानीयरः” इति सूत्रे एव कर्तव्यम् । न चाज्ग्रहणाभावे “वाऽ-
सरूपोऽस्त्रियाम्” इति परिभाषया ण्यत्प्रत्ययाभावपक्षे हलन्तेभ्योऽपि धातुभ्यो
यत्प्रत्ययप्रसङ्गः स्यादिति वाच्यम् । “नानुबन्धकृतमसारूप्यम्” इति परिभाषया
ण्यद्यतोः सरूपत्वात् । द्वयोः प्रत्यययोः समानरूपत्वेन “वाऽसरूप” इति सूत्राप्र-
वृत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“इचेति ह्रस्वः सुपठः” इति केनाभिप्रायेणोपस्थित-
मिति लिख ।

उत्तरम्—खन्धातोः क्यपि नकारस्य ह्रस्वकारे आद्गुणे च खेयमितिरूप-
सिद्धिनिर्वाधा । दीर्घस्य ह्रस्वस्य वा आद्गुणे विशेषाभावात् अतस्तत्सूत्रे ह्रस्व
एवेकारो विधेयो न तु दीर्घः, ह्रस्वविधाने मात्रालाघवात् इति । ननु इचेति ह्रस्वा-
देशाभ्युपगमे तस्यादेशस्य पूर्वेण सह आद्गुणे तस्यासिद्धतया “ह्रस्वस्य पिति”
इति तुक् स्यात् “पत्वतुकोरसिद्धः” इति षत्वे तुकि च कर्तव्ये एकादेशशालस्या-
सिद्धत्वस्वीकारात् इति चेद् ? न । तुग्विधौ पदान्तपदाधोरदेशोऽसिद्धो न त्वन्यो-
ऽपीति सिद्धान्तात् ।

प्रश्नः—“भार्या वधूः” इत्यत्र क्यप् भवति नवेति वद ।

उत्तरम्—ननु “भृजोऽसंज्ञायाम्” इति सूत्रे भार्याः क्षत्रिया इति ण्ल्लिङ्गे
संज्ञायां क्यपोऽभा कुर्वत्सच्चरितार्थमिति ऋलिङ्गे संज्ञायां न प्रवर्तिष्यते इति
भार्या वधूरित्यत्र “संज्ञायां समजनित्व” इत्यादिना क्यपा भाव्यमिति चेद् ? न ।
“एकानुबन्धकग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य” इति परिभाषया “हुभृज् धारणपोषणयोः”
इत्यस्मात्क्रयादिपठितदीर्घान्तात् भृ भरणे इत्यस्माद् वा ण्यन्तप्रत्ययस्य सिद्धत्वा-
त् । “संज्ञायां समजनि” इत्यादिसूत्रे ह्रस्वान्तभृज्धातोः पाठेन दीर्घान्तभृधातुविषये
तत्सूत्राप्रवृत्तिः । हुभृज्धातौ अनुबन्धद्वयं वर्तते, भृज्धातौ चैकनुबन्धो वर्तते, इति
हुभृज्धातुविषयेऽपि तत्सूत्राप्रवृत्तिरिति दिक् ।

प्रश्नः—“नकादेः” इति सूत्रस्य उपयोगोऽस्ति न वेति प्रतिपादय ।

उत्तरम्—“वजोः” इति सूत्रे निष्ठार्या ये धातवोऽनिदो भवन्ति तेषामेव
कुत्वं भवतीति व्याख्याय “न कादेः” इति सूत्रं प्रत्याख्यातं वार्तिककारेण । एवञ्च
गर्जितजिप्रभृतीनां धातूनां निष्ठाविषये सेट्त्वात्कुत्वन्न भवति । गुञ्जल्लुञ्जप्रभृतीनां
तु ङङित्वात् “ङङितो वा” इति सूत्रेण क्त्वाधां वेट्त्वात् “यस्य विभाषा”

इति सूत्रेण निष्ठाविषये इडागमो न भवतीति “चजोः” इत्यनेन कुत्वम् । एवञ्च
 “न कादेः इति सूत्रसत्तायां यु- द्वितीयां घातृनां कुत्वन्न भवति, सूत्राभावे
 तु प्राप्नोति इति मतद्वये प्रयोगे “यथोत्तरं सुनीनां प्रामाण्यम्” इति
 परिभाषया वार्तिकमतमेव युक्तम्

प्रश्नः—“प्रैषादि” सूत्रे कृत्यग्रहणं कर्तव्यं न वा ।

उत्तरम्—“वासरूपोऽस्त्रियाम्” इति परिभाषया ऋट्कृत्यसंज्ञकप्रत्ययश्च
 पर्यायेण भविष्यतीति “प्रैषादि” सूत्रे कृत्यग्रहणं स्वयधिकारादूर्ध्वं “वासरूपोऽ-
 स्त्रियाम्” इति सूत्रं क्वचित् न प्रवर्तते इति ज्ञापयति । एवञ्च “कल्युट्त्तुमुनखल्येषु
 मिथो बाध्यबाधकभावो न भवती”ति वचनं सिद्धम् । तेन हसितं हसनमिति भावे
 विहितयोः कल्युट्प्रत्यययोर्विषये “भावे” इति सूत्रेण घञ् प्रत्ययो न भवति । अथ
 च ईषत्पानः इति खल्ये खलप्रत्ययश्च न भवतीति फलम् । अत्र लाघवात् “शक्ति
 लिङ् च” इति सूत्रे चकारग्रहणेनैव पूर्वोक्तज्ञापनसम्भवे प्रैषादिसूत्रे कृत्यग्रहणन्न-
 कार्यमिति दिक् । इति कृदन्तकृत्यप्रक्रिया ।

अथ कृदन्तप्रकरणम् ।

प्रश्नः—“सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये” इति सूत्रे वृत्तिकारभा-
 व्यकारयोः को मतभेदः कथञ्च स इति स्पष्टमभिधीयताम् ।

उत्तरम्—“सत्सूद्विष” इति सूत्रे उपसर्गोऽपीत्युक्तत्वादुपसर्गमिन्नस्यैव
 सुपो लाभावास्मिन्सूत्रे पुनः सुग्रहणमिति वृत्तिकारादीनां मतम् । भाष्यकारास्तु-
 “सत्सूद्विषः” इति सूत्रे “सुपि स्थः” इत्यतः सुपीत्यनुवर्तते । तच्चोपसर्गोत्तरप-
 रम् , उपसर्गोऽपीति पृथगुक्तेः । तदिहानुवर्तमानमर्थाधिकारादुपसर्गोत्तरपरमेव स्याद-
 तः पुनः सुग्रहणमनाश्रितोपसर्गानुपसर्गविशेषस्य सुबन्तमात्रस्य ग्रहणार्थमित्याहुः ।
 तेन ‘स बभूवोपज्जीविनाम्’ इत्यादिप्रयोगैः सुबन्तमात्रे णिनिरिति सङ्गच्छते ।

प्रश्नः—“निष्ठायां सेड्” इति सूत्रे सेड्ग्रहणस्य प्रयोजनं लिख ।

उत्तरम्—ननु अनिटि “जेरनिटि” इति सिद्धत्वात् सेड्यमेवेदं सूत्रं भवि-
 ष्यतीति चेद् ? न । कालावधारणार्थमस्यावश्यकत्वात् । यदि निष्ठा सेट्त्वमापद्येत,
 तदेव णिलोपो न तु ततः प्रागिति । अन्यथा ण्यन्तात्कृधातोः कप्रत्यये नित्य-
 त्वादिङागमात्पूर्वमेव णिलोपे ततः “एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्” इति इटःप्रतिषेधः
 स्यात् । एतदपि फलं पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भावमनाश्रयणे, तदाश्रये,
 तु नेह प्रयोजनम् । भाष्ये तु सूत्रमिदं प्रत्याख्यातम् । “जेरण्यने” इति सूत्रे

योगविभागात् वृत्तिमिति निपातनस्य नियमार्थत्वेन वृत्तादस्यत्र कारितमित्यादौ णिलोपाभावविज्ञानात् ।

प्रश्नः—‘सानुमतः प्रकुल्लम्’ इत्यत्रस्थदोषवारणेन सूत्रं सफलम् ।

उत्तरम्—ननु “अनुपसर्गात्कुल्लक्षीब” इत्यादिनोपसर्गाभावे निष्ठावयवत-
कारस्य कृत्वं निपात्यते । अत्र तु उपसर्गस्य सत्वेन कृत्वनिपातनमसम्भवमिति
चेद् ? न । ‘कुल्ल-विकसने, धातोः पचाद्यचि सति रूपस्य सिद्धत्वात् । नचौबं
सत्युपसर्गे कुल्लधातोः रूपसिद्धौ सूत्रं व्यर्थमेवेति वाच्यम् । उपसर्गाभावे कु-
ल्लाद्यनिष्ठवारणेन सत्रस्य सफलत्वात् । ‘कुल्लवान्’ इति रूपसिद्धये “अनुपसर्गा-
त्कुल्लक्षीब” इत्यादिसूत्रमावश्यकम् ।

प्रश्नः—‘घृषिशासी वैयात्ये’ इदं सूत्रं विध्यर्थमुत नियमार्थम् ।
अत्र मतान्तरं निरस्य सिद्धांतः प्रदर्शनीयः ।

उत्तरम्—घृषेरादित्वात् “आदितश्च” इत्यनेन शसुधातोश्चोदित्वात् “य-
स्य विभाषा” इत्यनेन सूत्रेणानुनिषेधे सिद्धे “घृषिशासी वैयात्ये” इ’ सूत्रम्
अविनये एवैतौ अनिटौ स्त इति नियमयति । एवञ्चान्यत्रार्थे इटि सति ‘धर्षितः
विज्ञासित इति रूपद्वयसिद्धिः । नच घृषेर्भावादिकर्मणोरर्थयोः प्रत्यये “विभाषा
भावादिकर्मणोः” इत्यनेन पाक्षिके इटि प्राप्ते तन्निषेधार्थं विध्यर्थमेवास्तु इति
वाच्यम् । वैयात्येऽर्थे भावादिकर्मणोर्धृषेर्विधानाभावात् । इत्यञ्च नियमार्थमेवेति
वृत्तिकारादयः । हरदत्तस्तु—घृषिधातौ आकारग्रहणस्य फलाभावादकरणेन “आ-
दितश्च” इति सूत्राप्रवृत्तौ इटः प्राप्तौ सत्यां तन्निषेधार्थं सूत्रं विध्यर्थमेवेत्याह ।
तन्मते—वैयात्येऽर्थे इड्रहितप्रयोगोऽन्यत्रार्थे चेट्सहितप्रयोगः सिद्धः । पाणिनिना
आकारग्रहणं कृतमिति भावादिकर्मणोः प्रत्यये जाते “विभाषा भावादिकर्मणोः”
इति प्राप्तस्येदो निषेधार्थं सूत्रं विध्यर्थमेवेत्याह माधवः । एवञ्च वैयात्येऽर्थे घृष्ट-
मित्येकं रूपम् । अन्यत्रार्थे च घृष्टम् , धर्षितमिति रूपद्वयं सिद्धम् । अयमेव पक्षो
ज्यायान् इति दिक् ।

प्रश्नः—घिनुण उकार उच्चारणार्थः, प्रयोजनार्थो वा इत्यभि-
धीयताम् ।

उत्तरम्—घिनुणि उकार उच्चारणार्थो नत्वनुबन्धः । सति ह्यनुबन्धे शमि,
नौ शमिन इत्यत्र “उगिदशाम्” इति नुमप्रसज्यत, शमिनितरेत्यत्र “उगितदश”

इत्यन्यतरस्यां ह्रस्वः स्यात्, इष्यते तु नित्यमिति । अत उकार उच्चारणार्थं ए-
वेति वृत्तिकारादयः । भाष्यमते तु अनुबन्ध एव, शमनितरेत्यत्र ह्रस्वविक-
ल्पस्येष्टत्वात् । शमीत्यादौ नुम्प्रसङ्गस्तु तद्विधौ शलप्रहणमपकृत्य शलन्तानामे-
तद्विधानाद् वार्यते इति ।

प्रश्नः—‘विदत्तम्’ इत्यत्र “दस्ति” इत्यनेन दीर्घः कथं न, सन्नि-
पातपरिभाषया नत्वं धत्वञ्च कथं वारितमिति सुष्ठूपपादय ।

उत्तरम्—न च दत् इति तान्तादेशपक्षे विदत्तमित्यादौ “दस्ति” इति सु-
श्रेणोपसर्गस्य दीर्घः स्यादिति वाच्यम् । तकारादौ प्रत्यये परे तद्विधानात् । अत्र
तु दकारादिप्रत्ययः । एवं ददिति दान्तादेशे दध इति धान्तादेशे वा न काप्यनुप-
पत्तिः । न च दान्तादेशे “रदाम्याम्” इति नत्वं धान्तपक्षे च “क्षयस्तथोर्धोऽधः”
इति तकारस्य धत्वञ्च स्यादिति वाच्यम् । धातुतकारयोस्सम्बन्धेन जायमानो
ददादेशो दधादेशो वा तयोः सम्बन्धविघातके नत्वे धत्वे च कर्तव्ये कारणं न भव-
तीति सन्निपातपरिभाषाया विरोधात् । यदि प्रादय उपसर्गाः, तदा “अच उपस-
र्गात्” इति तादेशे प्रलोऽवत्त इत्यादिप्रयोगाः सिध्यन्ति । यदा च प्रादय उपस-
र्गप्रतिरूपकाः, तदा प्रदत्तमवदत्तमित्यादिप्रयोगाः सिद्ध्यन्तीति ।

‘अवदत्तं विदत्तञ्च प्रदत्तञ्चादिकर्मणि । सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्ट्यते’
इति वचनं निरुतम् ।

प्रश्नः—‘यायावरः’ इति रूपं शङ्कानिरासपूर्वकं साधय ।

उत्तरम्—यायायत इति विग्रहे “यश्च यलः” इति वरचि “अतो लोपः”
इत्यकारलोपे “लोपो व्योर्वलि” इति यलोपे च कृते रूपं सिद्धम् । नचान्त्रालोपस्य
स्थानिवद्भावेन वलपरत्वाभावात् यलोपो न स्यादिति वाच्यम् । “न पदान्तद्विव-
चनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्रविधिषु” इति स्थानिवद्भावनिषेधात् । न च
अलोपस्य स्थानिवत्त्वेन आर्धधातुकत्वमाश्रित्य “आतो लोप इटि च” इत्याकार-
लोप इति वाच्यम् । “वरे लुप्तं न स्थानिवत्” इति निषेधादिति दिक् ।

इति पूर्वकृदन्तम् ।

अथोत्तरकृदन्तम् ।

प्रश्नः—‘अर्थग्रहणमस्तिनैव सम्बध्यते’ केनाभिप्रायेणेदं वाक्यं
समुपस्थितमिति दर्शय ।

उत्तरम्—अर्थग्रहणमस्तिनैव सम्बध्यते । अर्थग्रहणस्य समीपे अस्तिवर्तते, इति अनन्तरत्वात् शक्यशक्तानां घटादयोश्च पृथगुपादानादर्थशब्दोऽस्तिनैव सम्ब-
ध्यते, न तु शकादिभिरिति तदाशयः । लोकयुक्त्यापि च सिद्धमिदम् । यथाहि—
कस्मिंश्चिदध्यापनादेः स्थाने रिक्ते सति तल्लब्धुं दूरस्थाः समीपस्थाश्च सर्वे पुरुषाः
प्रयतन्ते, परञ्च तत्र निकटवर्तिन एव पुरुषास्तत्स्थानं लभन्ते । तथैव यद्यर्थग्रहणस्य
अस्तिना सह सम्बन्धे जाते आकाङ्क्षा निवृत्ता भवति, तदा अन्यपदार्थे तदन्वयप्र-
यासो व्यर्थ इति दिक् ।

प्रश्नः—“निवासचित्ति” इति सूत्रे चः कः इत्येव वक्तव्ये आदि-
ग्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—“निवासचित्तिशरीर” इत्यादिसूत्रे चः कः इत्येव वक्तव्ये आदि-
ग्रहणमाविभूतस्यैव चकारस्य ककारः स्यादिति बोधनाथम् । तेन यल्लुकि गोम-
यानां निकेचाय इत्यत्रादिचकारस्यैव कुत्वं भवति नतुत्तरस्येति ।

प्रश्नः—“कर्मणि च येन” इति सूत्रे कर्तुर्ग्रहणं किमर्थम् ?

उत्तरम्—कर्तुः किम् ? गुरोः स्नापनं सखम् । अत्र गुरोः सुखानुभवस्य कर्तृ-
त्वेऽपि ल्युट्प्रकृतेः स्नापयतेः कर्तृत्वाभावाज्ज्ञानेन सूत्रेण ल्युट्, अपि तु “ल्युट्
च” इति सूत्रेण । तेन नित्योपपदसमासस्याभावः । अनेन तु ल्युटि नित्योपपदस-
मासः स्यात् ।

प्रश्नः—अतिसुलभम्, अतिदुर्लभम् इत्यत्र “उपसर्गात्खल्वजोः”
इति नुम् कथं नेति प्रदर्शय ।

उत्तरम्—ननु ‘अतिसुलभम्’ इत्यादावुपसर्गद्वयेन “नसुदुर्म्याम्” इति सूत्रा-
प्रवृत्तौ “उपसर्गात्खल्वजोः” इति सूत्रेण नुम् स्यादिति चेद् ? न । स्वत्योः कर्म-
प्रवचनीयसंज्ञासत्त्वेन उपसर्गत्वाभावात् “उपसर्गात्खल्वजोः” इति सूत्राप्रवृत्तेः ।
यदा अतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवति, तदा सु इत्येकोपसर्गत्वेन “सुदुर्म्याम्” इति
सूत्रेण नुमो निषेधः । यदि च सोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवति, तदा उपसर्गात्परत्वा-
भावेन “उपसर्गात्खल्वजोः” इति सूत्राप्रवृत्तिरिति उभयथापि नुमोऽभावः सिद्धः ।
इत्यञ्च उभयोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवतीति दिक् ।

प्रश्नः—“अदो जग्धिर्ल्यपूतिकिति” इति सूत्रे ल्यब्ग्रहणं किमर्थं
तत्सफलं लिख ।

उत्तरम्—ननु “अदो जग्धिर्ल्यप्तिक्ति” इति सूत्रे ल्यब्रह्मणाभावेऽपि प्रपूर्वकाद्धातोः क्त्वाप्रत्यये कृते “समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्” इति सूत्रेण ल्यबादेशे “अदो जग्धिः” इत्यादिना जग्ध्यादेशे च प्राप्ते “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” इति परिभाषया जग्ध्यादेश एव स्यादिति “अदो जग्धिः” इत्यत्र ल्यब्रह्मणं व्यर्थमेव स्यादिति चेद् ? न । “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते” इति परिभाषाज्ञापनेन ल्यब्रह्मणस्य सफत्वात् । तेन विधाय इत्यत्र “दधातेर्हिः” इति हित्वञ्ज । ‘प्रदाय’ इत्यत्र च ‘दोदद्धोः’ इति दत्वञ्ज । ‘प्रखन्य’ इत्यत्र “जनसनखन” इत्यात्वन्नेत्यादि ।

प्रश्नः—‘मूलकोपदंशभुङ्क्ते’ अत्र सामर्थ्याभावात् णमुल्प्रत्ययः समासश्च कथमिति लिख ।

उत्तरम्—ननु मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते इति विग्रहे ल्यबन्तसकर्मकदंशघातुयोगे मूलकस्य शब्दतः कर्मत्वाभावेन मूलकोपदंशयोः सम्बन्धभावेन सामर्थ्याभावात् “उपदंशस्तृतीयायाम्” इत्यनेन णमुल्प्रत्ययः, “तृतीयाप्रभृत्यन्यतरस्याम्” इति समासश्चात्र दुर्लभ इति चेद् ? न । किमुद्दिश्य भुङ्क्ते इति कर्मणोऽपेक्षायाम्मूलकमुपदंश्य भुङ्क्ते इत्यर्थेन मूलकस्य कर्मत्वं समायाति । मूलकस्य दंशघातुना सहाय्यसम्बन्धस्य सत्वात् । यदि तृतीयायाः शब्दत एवान्वये प्रत्यय इष्यते, तर्हि ‘करणे हनः’ इतिवत् ‘उपदंशः करणे’ इत्येव वदेत् । एवञ्च तृतीयाग्रहणसामर्थ्येन आर्थसम्बन्ध एवात्रेष्टः । शब्दतस्तु मूलकं भुजिक्रियाम्प्रति करणमेवेत्यलम् । इति शिवम् ।

इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ।

नासिके गालणे ग्रामे महादेवाऽभिदः सुधीः ।

दामोदरस्तस्य सुतस्तत्सुतः श्रीमदाशिवः ॥ १ ॥

शास्त्रिणः श्रीगणपतेर्लब्धविद्याः सुधीरयम् ।

व्यातनोल्लघुकौमुद्यां मञ्जूपायाञ्च जिकके ॥ २ ॥

प्रश्नोत्तरीं फक्किरानां विद्यार्थिप्रीतयेऽकरोत् ।

प्रीयतां तेन विद्येशः सर्वदा श्रीसदाशिवः ॥ ३ ॥

इति श्रीकौण्डिन्यकुलावतस-जोशीत्युपाह्वदामोदरात्मजसदाशिवशास्त्रिविरचितेय

फक्किकाप्रश्नोत्तरी समासिमगम् ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

कौमुदीकल्पलतिका

[सिद्धान्तकौमुदीगुप्तरहस्यप्रकाश]

इस ग्रन्थमें नई कल्पनायें, नये २ न्यास, पङ्क्तियों की सरल व्याख्या, शास्त्रार्थ की अपूर्व कोटियाँ तथा करीब ५० सूत्रों के परिष्कृत शाब्दबोध को देख कर अन्य सूत्रों के शाब्दबोध बड़ी सुगमता से बनाये जा सकते हैं। इसमें स्वरवैदिक-प्रकरण की पङ्क्तियों की भी व्याख्या परीक्षापयोगी की गई है, अतः इस ग्रन्थ से परीक्षा तथा शास्त्रार्थ तथा सिद्धान्तकौमुदी को पढ़ने पढ़ाने आदि में बड़ी सुविधा होती है। इतना होने पर भी उपकारार्थ ग्रन्थ का केवल मूल्य १॥)

न्यासकल्पलता

इसमें नये नये अपूर्व न्यास, तथा साम्प्रदायिक कोटियाँ जिन्हें शास्त्रार्थी लोग छिपाया करते थे सब प्रकाशित कर दी गई। इसमें म० म० श्रीशिवकुमार शास्त्री जी आदि के न्यास तथा मैथिलसम्प्रदाय के भी न्यासों का शास्त्रार्थ दिखाया गया है। इस ग्रन्थ की महत्ता देखनेसे ही शास्त्रार्थ प्रेमी समझ सकते हैं। मूल्य ॥)

पाणिनीयव्याकरणे वादरत्नम् १-२ भाग

न्यायव्याकरणाचार्य श्रीमोक्षकशिरोमणिना श्रीसूर्यनारायणशुक्लेन विरचितम् ।

प्रथमभाग में न्यास प्रकरण तथा द्वितीय भाग में परिष्कार प्रकरण है। न्यास-परिष्कार का इसके मुकाबले दूसरा ग्रन्थ आज पर्यन्त अन्यत्र छपा ही नहीं। इन दोनों भागों को संग्रह करलेने से फिर इस विषय के किसी भी ग्रन्थ के संग्रह करने की आवश्यकता न होगी। मूल्य प्रथम भाग १॥) द्वितीयभाग १।)

फक्किकाप्रकाश

म० म० पण्डित श्रीसीतारामशास्त्रीकृतबृहद्दृष्टिपणीसहित
सिद्धान्तकौमुदी की सम्पूर्ण फक्किका अर्थात् क्लिष्ट पङ्क्तियों का सरल व्याख्यान मूल्य १॥)

प्रातिष्ठानम्—चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस सिटी ।

491.25/SAD/S/R/5



175507

